प्रकाशक
साधना-सदन
प्रयाग

: १९४७ :

मुद्रक:—
बी० एल० वारश्नी
वारश्नी प्रेस प्रयाग,

प्रकाशकीय

श्री अप्पा साहब की यह रचना, साधना-सदन से प्रकाशित करते हुए मुझे 'सदन' की सार्थकता की किंचित् अनुभूति होती है। दो वर्ष पूर्व मैंने राजस्थान—प्रवास में यह पुस्तक मराठी में देखी और पढ़ी। तब से उसके प्रति मन मोहाविष्ट हो गया और यह इच्छा बलवती हुई कि यह कल्याणकारी रचना 'सदन'—द्वारा हिन्दी पाठकों के सम्मुख आवे।

पिछले २५ वर्षों में हिन्दी वाङ्मय ने बहुत विस्तार पाया है। शरीर की वृद्धि बहुत तेज़ी से हुई है—कैशोर के बीतते मानव जीवन में ऐसा ही होता है। साहित्य में भी वही हुआ है पर विस्तार व शरीर-वृद्धि के साथ गहरे आत्ममंथन की वृत्ति नहीं आई। शरीर खिला पर

आत्मा नहीं उभरी। एक प्रकार से यह भी स्वाभाविक था—यौवन स्वप्न के पंखों पर उड़ता है, भावनाओं पर तैरता है। पर अब वह समय आ गया है कि शरीर के साथ आत्मा, भावना के साथ विवेक को हम महत्व दें। हमारे यहाँ कवि हैं; लेखक हैं पर विचारक बहुत कम हैं। हमें उस ओर ध्यान देना चाहिए।

आज जब राष्ट्र की स्वतंत्रता के यज्ञ का एक युग समाप्त हो गया है और हम आशा और विश्वास के साथ अपने देश का बोझ अपने हाथों ले रहे हैं तब राष्ट्र-निर्माण के गुरुतर कार्य के लिए सहस्र-सहस्र सेवाभावी, आत्मनिरत, कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। उनको उचित मार्ग बताने में यह पुस्तक गहरी तमिस्रा में चमकने वाले ध्रुव का काम देगी। मुझे आशा है, पाठक इसे न केवल पढ़ेंगे वरं इसका मनन करेंगे और इससे श्रेयस्कर जीवन की सिद्धि में सहायता लेंगे।

प्रयाग
१५।८।४७

—श्री रामनाथ 'सुमन'

लेखक का निवेदन

पाठकों के सामने अपने विचार पुस्तक रूप में पेश करने का यह साहस मैं पहली बार कर रहा हूँ। ये लेख मैंने जुलाई, १९४२ से सितम्बर १९४२ तक बेलगाँव-जेल में लिखे हैं, उस समय इनके बारे मैंने इस तरह लिखा था :—

"मैंने ये विचार छपाने के इरादे से नहीं लिखे। यदि मित्रों की राय हो व साधनों की अनुकूलता हो तो आगे-पीछे अधिक संशोधित रूप ये छप जायँ तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु मैंने मुख्यतः अपने निकटस्थ मित्रों और सहकर्मियों के लिए ये लेख लिखे हैं। दस-दस बीस-बीस साल तक एक साथ काम करने पर भी निकट के साथियों के साथ कार्य के आदर्श और पद्धति के सम्बन्ध में स्वस्थ चित्त से आमूलाग्र सह-विचार करने का अवसर शायद ही मिलता है। अव्वल तो समय चाहिए, फिर चित्त स्वस्थ होना चाहिए और दोनों मिलने पर भी बुद्धि तत्पर होनी चाहिए। इन सब योगों का एक साथ मिल जाना कठिन हो जाता है। इसलिए निकटस्थ सहकर्मियों से सह-विचार के एक-साधन के रूप में ये लेख मैंने जेल-निवास की शान्ति में लिखना तय किया।

आत्मा नहीं उभरी। एक प्रकार से यह भी स्वाभाविक था—यौवन स्वप्न के पंखों पर उड़ता है, भावनाओं पर तैरता है। पर अब वह समय आ गया है कि शरीर के साथ आत्मा, भावना के साथ विवेक को हम महत्व दें। हमारे यहाँ कवि हैं; लेखक हैं पर विचारक बहुत कम हैं। हमें उस ओर ध्यान देना चाहिए।

आज जब राष्ट्र की स्वतंत्रता के यज्ञ का एक युग समाप्त हो गया है और हम आशा और विश्वास के साथ अपने देश का बोझ अपने हाथों ले रहे हैं तब राष्ट्र-निर्माण के गुरुतर कार्य के लिए सहस्र-सहस्र सेवाभावी, आत्मनिरत, कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। उनको उचित मार्ग बताने में यह पुस्तक गहरी तमिस्रा में चमकने वाले ध्रुव का काम देगी। मुझे आशा है, पाठक इसे न केवल पढ़ेंगे वरं इसका मनन करेंगे और इससे श्रेयस्कर जीवन की सिद्धि में सहायता लेंगे।

प्रयाग
१५।८।४७

—श्री रामनाथ 'सुमन'

लेखक का निवेदन

पाठकों के सामने अपने विचार पुस्तक रूप में पेश करने का यह साहस मैं पहली बार कर रहा हूँ। ये लेख मैंने जुलाई, १९४२ से सितम्बर १९४२ तक बेलगाँव-जेल में लिखे हैं, उस समय इनके बारे मैंने इस तरह लिखा था :—

"मैंने ये विचार छपाने के इरादे से नहीं लिखे। यदि मित्रों की राय हो व साधनों की अनुकूलता हो तो आगे-पीछे अधिक संशोधित रूप ये छप जायँ तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु मैंने मुख्यतः अपने निकटस्थ मित्रों और सहकर्मियों के लिए ये लेख लिखे हैं। दस-दस बीस-बीस साल तक एक साथ काम करने पर भी निकट के साथियों के साथ कार्य के आदर्श और पद्धति के सम्बन्ध में स्वस्थ चित्त से आमूलाग्र सह-विचार करने का अवसर शायद ही मिलता है। अव्वल तो समय चाहिए, फिर चित्त स्वस्थ होना चाहिए और दोनों मिलने पर भी बुद्धि तत्पर होनी चाहिए। इन सब योगों का एक साथ मिल जाना कठिन हो जाता है। इसलिए निकटस्थ सहकर्मियों से सह-विचार के एक साधन के रूप में ये लेख मैंने जेल-निवास की शान्ति में लिखना तय किया।

"निबन्ध-लेखन से विद्यार्थियों को जैसा लाभ होता है वैसा ही मुझे इन लेखों के निमित्त से प्राप्त हुआ है। विचार अधिक व्यवस्थित व स्पष्ट हुए हैं और मैं समझता हूँ, निष्ठा भी अधिक दृढ़ हुई है।

"इन लेखों के विचार मैंने अपने गुरुजनों से, साथियों से और कहीं-कहीं बालमित्रों से भी, जैसे मैंने उन्हें समझा, लिये हैं।" मुझे वे पट गये हैं और उन्हें पचाने का मेरा प्रयत्न भी जारी है। इस अर्थ में वे मेरे हैं। परन्तु जैसे वे मेरे हैं वैसे ही मेरे सहकर्मियों के भी हैं। बल्कि हमारी विचार शैली के सामुदायिक प्रतिबिम्ब हैं, ऐसी मेरी समझ अथवा आशा है।"

हस्त-लिखित लेख अनेक मित्रों ने ध्यान के साथ देखे हैं। कई मित्रों ने इन्हें छपाने का आग्रह किया, कुछ ने सुधार भी सुझाये। उनमें कुछ तो मैंने मंजूर कर लिये, और कुछ ऐसे थे कि उनके लिए तमाम लेख नये सिरे से लिखना पड़ता। इसके लिए आवश्यक अवकाश इस समय मेरे पास नहीं। दूसरे संस्करण तक पाठक यदि अपने सुधार मुझे सुझाएंगे तो मैं उनका कृतज्ञ होऊँगा।

श्री किशोरलाल मश्रुवाला का स्वास्थ्य बहुत नाजुक होते हुए भी उन्होंने सिर्फ मेरे प्रति अपने वात्सल्य के कारण मार्मिक व मूलग्राही प्रस्तावना लिख दी है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। फिर भी उनके आभार मानना मुझे शोभा नहीं देगा।

[illegible]काश्रम
कणकवली
एप्रिल, १९[illegible]

सीताराम पुरुषोत्तम
उर्फ
अप्पा पटवर्धन

'अथातो धर्म-जिज्ञासा'

श्री अप्पा साहब पटवर्धन ने दो-युगों तक अपने अंगीकृत व्रतों का निष्ठा-पूर्वक पालन करके, अनेक प्रकार की कठिनाइयों तथा कष्टों का मुकाबला करते हुए अन्त को उनमें सफलता और प्रतिष्ठा प्राप्त की है। उनका जन्म मूलतः विद्याव्यासंगी परम्परा में हुआ। फिर उन्हें बचपन से ही गुरुजनों-द्वारा स्वाध्याय का चस्का लगा। तर्क-शास्त्र व तत्वज्ञान-जैसे विषयों में विशेष निपुणता प्राप्त की। साथ ही एक अध्यापक की मनोवृत्ति, सूक्ष्म चर्चा करने वाले युवक-समाज और पंडित-मण्डली की संगति में व्यतीत होने वाला नित्य जीवन, जेल के निवृत्तिवास में मनन के लिए प्राप्त अनुकूलता और अपने तथा दूसरों के अनुभवों का मन में इकट्ठा हुआ खजाना! इस सब के परिपाक-स्वरूप उनकी लेखनी से मानों अपने स्वकर्म का शास्त्र ही इस पुस्तक

के रूप में प्रकट हो गया हो तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

एक कहावत है कि 'नाई का लड़का मरते दम तक सिर ही मूड़ेगा'। इसका अर्थ यह है कि जब वह जीवन भर नाई का काम करता रहेगा तभी कहा जायगा कि उसकी नस-नस में स्वकर्म के संस्कार भरे हुए हैं। हजामत बनाते हुए उसे कितना रुपया मिला, यह प्रश्न नगण्य न होने पर भी केवल इतना ही प्रश्न नहीं है। 'मुझसे दूसरा कुछ सध ही नहीं सकता, रुचेगा ही नहीं, किया ही नहीं जा सकेगा'—यह भावना, ऐसा प्रतीत होना स्वकर्माचरण की भावना है।

इस भावना के वशीभूत होकर करोड़ों किसान खेती से फायदा न होते हुए भी आग्रहपूर्वक उसी से चिपटे रहते हैं, प्रकृति के गुणों से उत्पन्न यह स्वकर्माचरण वर्ण-धर्म का मूलतत्व है। इस तत्व के संशोधित रूप—विशुद्ध भाव से किये स्वकर्माचरण को ही आजकल हम 'सेवा' कहते हैं और लोक-सेवा, देश-सेवा, सेवक आदि शब्दों का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता है।

'सेवा' स्वकर्माचरण का ही संशोधित रूप होने के कारण वह भी एक वृत्ति ही है। 'वृत्ति' का अर्थ है हमारे जन्म से लेकर अथवा उसके बाद प्राप्त हुए संस्कारों से निर्मित शरीर, मन व बुद्धि की समाजोपयोगी अथवा विश्वोपयोगी पात्रता। वृत्ति का एक अर्थ है उपजीविका का साधन अथवा पेशा। परन्तु वह लाक्षणिक अर्थ है और उसके परिणाम को महत्व देकर उस पर आरोपित किया गया है। यदि सच नहीं तो बहुत से ऐसे पेशे, जो समाज के लिए उपयोगी हैं, शुरू में समाज-जीवन की कुछ कमियाँ या कुछ दुःख-कष्टों को देखकर उत्पन्न होने वाली सेवा-वृत्ति से ही निर्माण हुए होंगे। उन त्रुटियों या दुःखों को दूर करने के लिए पहले कुछ परोपकार की भावना रखने वाले भले आदमियों के मन में 'स्वयंसेवा' करने की प्रेरणा

उत्पन्न होती है। सेवा के एवज में यदि कुछ लाभ हो—नारियल या पान-सुपारी मिले—तो भी उन्हें वह सहन नहीं होता। पहले पहल यह सेवा वृत्ति उनके जीवन के दूसरे काम व व्यवसाय के पूरक के रूप में प्रकट होती है।

परन्तु जब वे कमियाँ या दुःख समाज-जीवन के नित्य विषय बन जात हैं और उन्हें दूर करने के लिए कई लोगों की आवश्यकता पड़ती है तब दूसरी सीढ़ी होती है 'खड़ी सेवा'। उस अवस्था में पूर्वोक्त 'स्वयंसेवक' तथा दूसरे कुछ लोग अपना नित्य व्यवसाय छोड़कर उन कमियों और दुःखों को दूर करने के लिए आठों पहर तैयार रहते हैं। और उनके काम की क़ीमत समझने वाले समाज के दूसरे लोग उनके लिए आवश्यक अनुकूलता और उनके जीवन-निर्वाह की सुविधा कर देते हैं, उनको सम्मान भी देते हैं। सेवा-कार्य और उन्हें करने वालों की उपजीविका पर बाज़ार भाव का साधारण न्याय लागू नहीं होता और प्रायः वे भी अपना जीवन ऐसा सादा व पवित्र रखते हैं कि जिससे उनके कद्रदानों की उदारता को पोषण मिले।

जिन दोषों, जिन कमियों और दुःखों को दूर करने के लिए परोपकार की भावना से सेवा-कार्य का जन्म हुआ—वे यदि समाज में बहुत फैले हुए हों, स्थायी रूप धारण किये हों, और उन्हें दूर करने के लिए विशेष कुशलता, योजकता अथवा शिक्षण की आवश्यकता हो तो इस 'खड़ी-सेवा' में से एक नया वर्ण अथवा पेशा धीरे-धीरे निर्माण होने लगता है। वकील, डाक्टर, धर्मोपदेशक, कथा-कीर्तन-कार आदि अनेक पेशे और उन्हीं के फिर उपपेशे निकल कर यह आदिम 'स्वयं-सेवा' बाद की 'खड़ी सेवा' और अन्त को 'पेशा' में परिणत हो जाती है।

'स्वयंसेवा' की अवस्था में निर्वाह का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। आर्थिक मुआवजा की छाया तक को 'स्वयं सेवा' छूना नहीं

चाहती। 'खड़ी सेवा' में आर्थिक मुआवज़ा मिलता है, परन्तु वह सेवक को सेवा करने की सुविधा की सीमा के अन्दर रहता है। बाज़ार भाव से उसका सम्बन्ध कम रहता है। परन्तु जब यह कार्य 'पेशे' की अवस्था तक पहुँच जाता है तब समाज की आवश्यकता की पूर्ति करते हुए भी सेवा के रूप में उसकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं रहती है। और यदि अधोगति को पहुँच गया तो अप्रतिष्ठित भी हो जाता है।

इस प्रकार 'सेवा' स्वकर्माचरण का ही शुद्ध रूप और शुरू में एक नवीन वर्ग अथवा पेशे का प्रारम्भ स्थान है अर्थात् अज्ञान, रोग, अस्वच्छता, अन्याय, विषमता, संस्कारविहीनता, विद्या-कला-विहीनता आदि जैसी समाज-जीवन की कमियाँ या दुःख, जो स्थायी रूप के हों, उनका निवारण, केवल 'स्वयं सेवा' से दीर्घ काल तक नहीं चल सकता; कुछ समय के बाद उन्हें 'खड़ी सेवा' का रूप अवश्य प्राप्त होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि उन कामों के लिए अटप्रहरी कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता पड़ेगी और इसलिए उन्हें उनकी सुविधा जुटा देने का प्रश्न भी उत्पन्न होगा। जबतक 'खड़ी सेवा' की अवस्था है तभी तक सेवा-कार्य का रूप शुद्ध और प्रतिष्ठा-प्राप्त रहने की सम्भावना है और तभी तक सेवकों को उस काम से स्वकर्म-द्वारा उपासना के और श्रेयःप्राप्ति के साधन-रूप में संतोष प्राप्त हो सकता है। परन्तु जब 'खड़ी सेवा' को एक बाज़ारू पेशे का रूप प्राप्त हो जाता है तब उनसे स्वकर्माचरण अथवा वर्ण-धर्म का पालन होते हुए भी "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।" इस वाक्य का अनुभव अथवा संतोष मिलना संशयास्पद होता है।

जिन लोगों का यह मत है कि स्वकर्माचरण एक विशेष सीमा तक चित्त-शुद्धि में तो सहायक है परन्तु उससे 'सिद्धिं विन्दति' का अनुभव होना असम्भव है उन्होंने श्रेयःप्राप्ति की अन्तिम सीढ़ी के रूप में संन्यास को अनिवार्य ठहराया है और गीता के जिन श्लोकों का अर्थ इससे भिन्न मालूम हुआ उनका संन्यास से अविरोधी अर्थ लगाने का

प्रयत्न किया है। हज़ार बारह सौ साल से हिन्दू जनता कम-ज़्यादा मात्रा में इन संस्कारों से प्रभावित रही है।

इन हज़ार बारह सौ वर्षों में 'ज्ञान दशा' सिद्ध होने पर स्वकर्माचरण अथवा प्रापंचिक कर्म में पड़े हुए 'सहज स्वरूप ज्ञानियों' का संप्रदाय प्रचलित जरूर रहा। परन्तु बहुत बार उनकी वह 'सहज अवस्था' दबी हुई वासनाओं की तृप्ति करने के लिए एक प्रकार के दम्भ का आवरण साबित हुई है। मुट्ठी भर लोग कुछ समय तक उनके पीछे चल पड़े तो भी उनकी प्रतिष्ठा अधिक समय तक जारी न रह सकी और यह सम्प्रदाय नैसर्गिक प्रेरणा से स्वकर्माचरण करने वाले मानव-समुदायों को शुद्ध मार्ग नहीं दिखा सका। गीता में कहा है,—

"जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्"

इस न्याय के अनुसार ज्ञानी को *योग बुद्धि* से *'समाचरण'* (*सम्यक् आचरण*) करके सब कर्मों का शोधन करना चाहिए, परन्तु यह नहीं कह सकते कि इसके अनुसार उन 'ज्ञानियों' ने कर्म का समाचरण भी करके दिखाया है। तो फिर 'जोषण' अथवा शोध, तो एक ओर रहा। क्योंकि इस 'सहजावस्था' के तत्वज्ञान ने कर्म के गुण-दोष, नीति-अनीति इत्यादि त्रिगुणात्मक विचारों को 'बाल बुद्धि' बताया है और उन्होंने बहुत बार स्मृति-प्रतिपादित विवेक-मर्यादा का उल्लंघन किया है। इससे उनका स्वकर्माचरण भी लोगों के लिए बहुत मार्ग-दर्शक नहीं हुआ है। इसके विपरीत कुछ लोगों के जीवन से लोग ऐसा समझने लगे कि श्रेयार्थी व संसारी लोगों के मार्ग भिन्न-भिन्न होने के कारण जो लोग सांसारिक कर्मों को श्रेयार्थी जीवन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं वे या तो समाज को नुकसान करते हैं या ढोंग रचते हैं।

---

* जुष् = विचार करना, छानबीन करना।

हज़ार-बारह सौ बरसों तक ऐसा अनुभव करने वाले हिन्दू समाज में इस विषय में विचार-परिवर्तन की जरूरत तो थी ही। लोकमान्य तिलक ने अपने गीता-भाष्य के द्वारा इस विचार-परिवर्तन का श्रीगणेश किया। उन्होंने यह प्रतिपादन किया कि निष्कामता की शर्त को पूरा करने पर संन्यास की अपेक्षा न रखते हुए केवल स्वकर्माचरण संसिद्धि का पूर्ण साधन बन सकता है, ऐसा गीता के उपदेश का सार है--यही नहीं, बल्कि उसी पर गीता में ज्यादा जोर दिया गया है। परन्तु 'निष्कामता' कहते किसे हैं ?

उसकी आध्यात्मिक स्वसंवेद्य पहिचान क्या ? व उसके बाह्य व्यावहारिक रूप भी क्या हैं ? यदि उसे समाज के विविध कर्मों में कार्यान्वित करना हो तो किन धर्मों व मर्यादाओं का पालन करना चाहिए ? इन तमाम तफसीलों का स्पष्टीकरण करना बाकी रहता है। निष्कामता इतनी सूक्ष्म वस्तु है कि उसकी तफसील बता देने पर भी मनुष्य अपने को फँसा सकता है, और तफसील का कुछ अधिक पालन करके भी सकाम करने वाला हो सकता है। तो फिर यदि तफसील न हो तो साधारण बुद्धि के श्रेयार्थी के लिए स्वकर्माचरण के द्वारा संसिद्धि की आशा रखना मानों अपने बाहुबल पर समुद्र को तैर जाने की आशा करना है। भौतिक सुख के पीछे पागल और सच-झूठ की परवाह न करते हुए, लड़ाई-झगड़े, प्रति-स्पर्धा, कूट-कपट के बल पर भौतिक स्वार्थ और सुख चाहने वाले समाज में स्वकर्म-द्वारा अर्थात् अपने व समाज के मुख्यतः भौतिक सुख की ही वृद्धि के लिए प्रयत्न करने वाले मनुष्य को श्रेयःसिद्धि कैसे होगी ? लोकमान्य ने पुराने विचारों में परिवर्तन करने का सूत्रपात तो किया परन्तु तदनुसार वर्तमान काल के लिए उचित शोध किये बिना ही वे नम्र बने।

यह आरम्भ गांधी जी ने किया, अथवा अधिक निश्चित शब्दों में कहें, तो आरम्भ उनके गुरु गोखले ने किया और विकास

गांधी जी ने किया। आज के हिन्दी समाज-जीवन की अनेक कमियाँ और दुःखों का उन्हें सूक्ष्म और एक साथ ही दर्शन हुआ। और प्रत्येक की उपाय-योजना के लिए सत्य, अहिंसा व इतर यम-नियमों पर आधारित भिन्न-भिन्न 'सेवा'—अर्थात् विधायक कार्य-क्रम की संस्थाएँ उन्होंने स्थापित कीं। पिछले २५ साल में इनमें से बहुत सी संस्थाएँ 'स्वयं-सेवा' 'खड़ी सेवा' और 'पेशे' इन तीनों भूमिकाओं में पहुँच कर आज तीनों प्रकार के सेवकों का कार्य-क्षेत्र बन गई हैं। स्वकर्म-योग सेवा और श्रेय का साधन न रहते हुए पेशे अथवा पेट-पालू व्यपार का साधन कैसे बन सकता है, यह भी उनके अनुभवों से हमने देख लिया है। श्री अप्पा साहब ने अपने सारे निरीक्षण का लाभ इस पुस्तक के द्वारा हमें दिया है। समाजोपयोगी कर्म-मार्ग में रह कर मनुष्य अपने स्वकर्म को स्व-पर-श्रेय का साधन किस प्रकार बना सकता है—इसका इस पुस्तक में उन्होंने 'दर्शन' और मानों उसका भाष्य ही रच दिया है।

यह पुस्तक सर्वांग-पूर्ण नहीं भी हो सकती है। इसके कुछ विचार पुनर्विचार करने योग्य भी हो सकते हैं। फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि कर्म-द्वारा संसिद्धि का विधिवत् मार्ग पेश करने की उन्होंने शुरुवात कर दी है। समाज का कोई पेशा अपने भौतिक सुखों की ऋद्धि के लिए ही करना और समाज-जीवन की किसी सच्ची कमी अथवा दुःख-निवारण के लिए उसे करके एक सीमा में उसके द्वारा अपनी गुजर करना दोनों में जो भेद है वही स्वकर्म-छंद व स्वकर्म-योग का भेद है। श्री अप्पा साहब का यह भाष्य सम्पूर्ण न होने पर भी यह दिखलाने तक अवश्य पूर्ण है कि समाज-जीवन की कमियां व दुःख दूर करने वाली कोई भी प्रवृत्ति यदि 'सेवाधर्म' के रूप में की गई तो वह स्वकर्म-योग बन सकेगी। इसके विपरीत यदि 'सेवा' समझी जाने वाली आज की कोई प्रवृत्ति अपने भौतिक सुख बढ़ाने के

लिए ही की गई तो उसे पेरो का रूप मिल जायगा। अतः कोई यह न समझे कि यह पुस्तक सिर्फ़ 'सेवकों' के लिए ही है।

मुझे आशा है कि 'सेवक' तथा दूसरे पाठक भी इस पुस्तक को पढ़कर इस मार्ग को अधिक स्पष्ट और उज्ज्वल बनावेंगे।

सेवाग्राम
२-४-४५

किशोरलाल घ० मशरूवाला

विषयानुक्रम

—:※:—

हमारे कुछ प्रकाशन

१.	गांधीवाद की रूप रेखा	(सुमन)	१॥।)
२.	स्त्रियों की समस्याएँ	(गांधी जी)	१॥)
३.	अमृतवाणी	(गांधी जी)	१॥)
४.	गांधीवाणी	(गांधी जी)	३)
५.	गांधीमार्ग	(आचार्य कृपलानी)	प्रेस में
६.	समग्र ग्रामसेवा	(धीरेन भाई)	८)

साधना-सदन
प्रयाग

सेवा-धर्म

आप्पा पटवर्धन

१

सेवा क्यों करनी चाहिए ?

सेवा के रूढ़ प्रकार—आजकल 'देशसेवा' एक सर्वमान्य तथा अधिकांश में रूढ़ कार्यक्रम हो गया है। देशसेवा के अलावा भी सेवा के अनेक प्रकार प्रचलित हैं:—समाज-सेवा, जाति-सेवा, हरिजन-सेवा, आदिवासी-सेवा, दलित-सेवा, मजदूर सेवा, ग्राम-सेवा, महारोगी-सेवा, गो-सेवा इत्यादि। उसी तरह नाना प्रकार के स्वयं-सेवक-मण्डल व सेवा-समितियाँ भी हर जगह हैं ही। ये सब छोटे-बड़े सेवक अपने-अपने ढंग के सेवा-कार्य में मग्न रहते हैं। ये तो वे सेवक हैं जो अपने-अपने नाम का पटिया लगाते हैं, जो मुखर अथवा संगठित हैं; परन्तु उनसे भी ज्यादा तादाद उन लोगों की है जो गुमनाम सेवा करते हैं, जो मूक सेवक हैं और जगह-जगह फैले हुए हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जिस प्रकार स्वार्थ संसार में सर्वव्यापी है उसी प्रकार यह सेवा-वृत्ति भी सार्वत्रिक है।

मिश्र उद्देश्य—यह सत्य है कि इसमें से अधिकांश सेवा मन की उमंग से, कौतुक से, प्रदर्शन या दिखावे के लिए, प्रसिद्धि के लोभ से, जिज्ञासा से, किसी महान् संगठन के एक घटक-अंग—होने के बड़प्पन की भावना से, दूसरों की देखा-देखी और कितनी ही बार तो लोभ, ईर्ष्या, मत्सर आदि से व दूसरे भी अनेक प्रलोभनों से होती है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि बहुत-सी सेवा केवल सहज प्रवृत्ति से, स्वाभाविक रुचि से, रह नहीं सकते इसलिए, दया-भाव से और अनजान में ही होती रहती है। फिर यह बात भी नहीं है कि विशेष अवसरों पर इनमें से एक ही उद्देश्य कार्य के मूल में होता हो। भिन्न-भिन्न मात्रा में अनेक उद्देश्यों का मिश्रण दिखाई देगा। फिर

भी शुद्ध सेवा जैसी एक चीज है ही। असल धातु खान में सदैव अन्य पदार्थों के साथ मिश्रित अवस्था में मिलती है और व्यवहार में भी हम सदैव विभिन्न मात्रा में अन्य धातु अथवा द्रव्य उसमें मिलाते हैं, फिर भी उसके शुद्ध-स्वरूप की कल्पना अपने सामने रख कर हम उसके गुण-धर्म निश्चित करते हैं। इसी प्रकार हमें भी स्वाभाविक असल या शुद्ध सेवा के सम्बन्ध में ही यहाँ विचार करना है, उसका स्वरूप निश्चित करना है; उसका अर्थ अथवा उसका मूल कारण खोजना है।

पश्चात्ताप—"मैं दूसरे की सेवा क्यों करूँ?" यह प्रश्न कार्य-कर्ता के मन में कई बार उठता है। सेवा-कार्य करते हुए सेवक का मन कई बार मुर्झा जाता है। ऐसी उदासी की अवस्था में मन में यह विचार आता है कि मैं दूसरों की सेवा किस लिए करूँ? पेट के लिए या वेतन के लिए (अर्थात् वेतन लेकर) दूसरों की सेवा क्यों करूँ, इस प्रकार का प्रश्न उठना विशेष सम्भव नहीं है क्योंकि वह सेवा दूसरों की नहीं अपनी ही है। परन्तु मैं "घर का खाकर फौज की बाटियाँ सेंकने—घर जला कर तीरथ करने—की झंझट में क्यों पड़ूं?" ऐसे विचार खुद मेरे मन में आने से पहिले ही मेरे इष्ट-मित्र व हित-चिन्तक मेरे दिमाग में डाल देते हैं!

हम ऊपर कह चुके हैं कि शुद्ध या स्वाभाविक सेवा वह है जो अनजान में ही हो जाती है परन्तु सेवा के दूसरे मिश्र प्रकार भी ऐसे हो सकते हैं जिसका शुरू में कोई भान न हो। कोई युवक सहज-स्फूर्ति से स्वयंसेवक दल में सम्मिलित हो जाता है; परन्तु बाद में इसलिए कि दूसरे को नायक बना दिया गया और अब मुझे उसकी आज्ञा में चलना पड़ेगा, अथवा दल के चित्र में मुझे प्रमुख स्थान नहीं मिला, उसका उत्साह भंग हो जाता है और वह अपने मन में कहने लगता है—"मैं क्यों बैठे-बिठाये इस जंजाल में पड़ गया?" देश के लिए अपनी पढ़ाई छोड़ देने वाले, जेल जाने वाले अथवा नौकरी छोड़ देने वाले अनेक युवकों को बाद में पश्चात्ताप होता है

और उनके मन में अएट-शएट विचार आते हैं—"यह देशभक्ति दीवानापन तो नहीं है ? अथवा वह महत्वाकांक्षा का ही एक प्रकार तो नहीं है। महत्वाकांक्षी नेता अपना महत्व बढ़ाने के लिए हमें भरे पर चढ़ाते हैं, और अपना मतलब साध लेने पर हमें दुतकार देते हैं" इत्यादि। इसके विपरीत, इस हलचल के सिलसिले में यदि वह युवक स्वयं ही महत्व को पहुँच गया तो उसकी निष्ठा दृढ़ भी हो जाती है। परन्तु ऐसे आगन्तुक कारणों से दृढ़ हुई निष्ठा के दांभिक होने का भी खतरा रहता है।

उपर्युक्त प्रश्न दूसरे रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—"मैं स्वार्थ-त्याग क्यों करूँ ? दूसरों के सुख के लिए मैं क्यों मरूँ ? मान-प्रतिष्ठा कीर्ति प्राप्त करने के लिए ? अथवा मेरा त्याग भविष्य के लाभ के लिए एक पूँजी का काम दे इसलिए ?"

इस मान-चेतना के दुष्परिणाम—हम कई बार देखते हैं कि समाज-सेवा और उसके लिए स्वार्थ-त्याग करने वाले मनुष्य को कुछ समय के बाद वह त्याग सहन नहीं होता और उससे एक प्रकार की स्पष्ट या सूक्ष्म चिड़चिड़ाहट मन में उत्पन्न हो जाती है। कितने ही पश्चात्ताप करके और भी स्वार्थ-परायण बन जाते हैं और सेवा कार्य को हमेशा के लिए नमस्कार कर लेते हैं। अच्छा, इन्हें जाने दो। परन्तु बहुत से तो अनुभव से होशियार होकर मानों अपनी पिछली बेवकूफी का बदला चुकाने के लिए अपनी सेवा को स्वार्थ सिद्धि का एक बहाना बना लेते हैं।

ऐसे 'त्यागी सेवक' को समाज की ओर से कहा जाना चाहिए कि "न तो तुम्हारे त्याग की जरूरत है, न सेवा की। न तुम क्लेश पाओ, न हम ही ताप-त्रय भोगें।"

बल्कि इसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि—"स्वार्थ-त्याग अनिष्ट वस्तु है। किसी के भी लिए स्वार्थ-त्याग करना इष्ट अथवा उचित नहीं है।"

तो फिर क्या सभी को अपने-अपने स्वार्थ में ही निमग्न रहना चाहिए? नहीं, क्योंकि संसार के सारे अनिष्ट इस स्वार्थ-साधुता से ही उत्पन्न होते हैं।

अतः स्वार्थ-त्याग या सेवा का अर्थ क्या है? वह क्यों करना चाहिए? इसका स्पष्टीकरण होना चाहिए।

माता की शिशु-सेवा---स्वार्थ-त्याग या सेवा का सबसे अच्छा नमूना अथवा आदर्श है माता का अपने शिशु के लिए कष्ट उठाना। माँ अपने बच्चे के लिए रात-दिन अविराम कष्ट सहती है। बच्चे उसका उपकार नहीं मानते, उलटे उस पर झल्लाते हैं—उसका अपमान करते हैं, परन्तु माँ को यह कुछ भी बुरा नहीं लगता। यदि वे ही उसके सौतेले लड़के हों तो कहेगी—"मैं इनके लिए इतना पचती मरती हूँ परन्तु इनमें जरा भी कृतज्ञता नहीं है। जिस हंडी में खाते हैं उसी में छेद करने वाले हैं ये।" इस प्रकार के विचार व उच्चार रोज़ सुनाई देते हैं। संक्षेप में हमारी सौतेली माँ की स्थिति ऊपर से इन पश्चात्ताप करने वाले देशभक्तों की सी है। सगी माँ को तो यह भान ही नहीं रहता कि मैं अपने बेटे के लिए इतना करती हूँ। इसके विपरीत वह तो मुन्ने के लिए सब तरह की मेहनत करने में अपने को भुला देती है। कब दिन उगा और कब डूबा, इसका उसे भान ही नहीं रहता। सेवा में ही उसे ऐसा आनन्द होता है कि वह उसी में मग्न रहती है। इसके विपरीत सौतेली माँ को सौतेले बच्चे के लिए उठाया हुआ थोड़ा-सा कष्ट भी बहुत मालूम होता है और वह यह अपेक्षा रखती है कि उसे उसका सवया फल मिले और यदि सृष्टि के नियमानुसार उसे उसका ही मिला तो वह जल-भुन कर खाक हो जाती है। एक शुरू से आखीर तक आनन्द ही आनन्द लूटती है और दूसरी के भाग्य में निरन्तर कष्ट ही कष्ट लिखा रहता है।

यह सहज ही मालूम होने जैसा है कि इसका कारण दोनों की वृत्ति या दृष्टि का फ़र्क है। माँ को तो बच्चे की सेवा करते हुए यह ख्याल

ही नहीं आता कि वह किसी दूसरे की सेवा कर रही है। वह तो खुद अपनी ही सेवा कर रही है। अपना पाखाना साफ करते हुए जैसे किसी को कुछ नहीं लगता वैसे ही उसे अपने बालक का मल-मूत्र साफ करते हुए भी कुछ मालूम नहीं होता। बल्कि बालक उसके शरीर पर भी हग-मूत दे तो भी उसे बुरा नहीं लगता।

नहीं, बल्कि उसे उलटा आनन्द आता है। "धन्याः तदंगरजसा मलिनी भवंति"—बालक के शरीर की धूल से मलिन होने वाले माँ-बाप धन्य हैं।* बालक के लिए कष्ट उठाने में माँ को आनन्द आता है, वह अपने को धन्य मानती है। वह अपनी सेवा का फल पाने की राह नहीं देखती। उसे वह उसी समय बल्कि क्षण भर पहिले ही मिल जाता है। सेवा का मौका मिलना ही उसका पुरस्कार है। यही उसके जीवन की सार्थकता है।

सेवा-आत्मविस्तार—माँ अपने शरीर की सेवा करके अपने को उतनी धन्य नहीं मानती जितनी बच्चे की शुश्रूषा करके अर्थात् जो यह ऊपर कहा गया है कि वह अपनी तथा बालक की सेवा में कोई अन्तर नहीं मानती, यह सर्वांश में सत्य नहीं है। अन्तर है और वह इतना ही कि यद्यपि बालक की सेवा ही उसके लिए स्व-सेवा हो गई है तो भी वह 'स्व' अधिक विस्तृत हो जाता है और यह स्व-विस्तार ही अत्यन्त आनन्ददायी होता है।

कहते हैं कि विवाहित स्त्री की बाँझ अवस्था में अर्थात् बालक होने से पूर्व मृत्यु न होनी चाहिए। यह भी कहते हैं कि कुमारी की अपेक्षा विवाहित स्त्री श्रेष्ठ है। एक विशेष दृष्टि से यह बात ठीक है। विवाह के पूर्व की अवस्था से विवाहित अवस्था अधिक उन्नत है। केवल अपना ही सोचने वाले दो प्राणी अपना-अपना अल्प स्व-त्व एक-दूसरे

---

* कहते हैं कि कालिदास की, शाकुन्तल नाटक वाली, यह उक्ति पढ़ कर जर्मन कवि गेटे आनन्द में झूमने लगा था।

को अर्पण कर देते हैं। अपने लिए जीने वाले युवक युवती दूसरे के लिए जीना, दूसरे के सुख में अपना सुख मानना सीखते हैं और ऐसा करके दोनों ही अपनी-अपनी समृद्धि और समुन्नति साधते हैं। दोनों के ही स्व-त्व अधिक विस्तृत, विशाल, समृद्ध और समुन्नत बनते हैं। इसी दृष्टि से कुमारी की अपेक्षा पत्नी और कुँवारे की अपेक्षा पति श्रेष्ठ है। और इसी दृष्टि से बाँझ की अपेक्षा सन्तानवती स्त्री श्रेष्ठ है—फिर भले ही वह बच्चा पैदा होते ही क्यों न मर गया हो।* जो युवती कल तक आलसी, नखरेबाज और अल्हड़ थी मातृपद पर पहुँचते ही उसकी एकदम कायापलट हो जाती है। उष्णता के फैरेनहीट की ३२° पर पहुँचते ही क्षण भर में जैसे कठोर बर्फ का पानी बहने लगता है वैसे ही इस नवमाता का सारा नखरा एक क्षण में ही काफूर (खतम) हो जाता है और वह दूसरे जीव के लिए जीने और मरने को तैयार हो जाती है। हाँ, केवल एक 'स्त्री' के नाते वह क्षुद्र हो सकती है, किन्तु माता के नाते से वह धन्य है और तीनों लोकों में बन्दनीय है। अस्तु।

शिशु-पालन, स्वार्थ-त्याग और सेवा का वास्तविक नमूना है। इससे हम स्वार्थ-त्याग का अर्थ निश्चित कर सकते हैं। स्वार्थ-त्याग में त्याग केवल दिखाऊ है। अथवा वह भाषा की सुविधा-मात्र है। स्वार्थ-त्याग तो वास्तव में स्वार्थ-साधन ही है, अलबत्ते वह स्वार्थ ज्यादा उच्च होता है और उसका 'स्व' अधिक विशाल होता है। अर्थात् स्वार्थ-त्याग का अर्थ है आत्म-विस्तार, अधिक विस्तृत 'स्व' की खोज।

---

* इसमें हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि अपत्यहीन स्त्रियों को नीचा दिखाया जाय। संतति न होना अगर किसी बात का सूचक है तो शारीरिक कमी का। और वह पत्नी के साथ पति की भी हो सकती है। फिर माता से संन्यासिनी श्रेष्ठ है, यह बात हमने आगे बताई ही है।

अब इस बात का निर्णय सहज ही हो जाता है कि सेवा क्यों और किसकी करें, तथा स्वार्थत्याग क्यों और किसके लिए करें। छोटा 'स्व' बड़े 'स्व' की सेवा करे। उसके लिए स्वार्थ-त्याग करे और उसके द्वारा अपना श्रेय साधे। इससे यह नतीजा निकला कि 'सेवा' और 'त्याग' तो नाम मात्र के ही हैं। सेवा करने का अर्थ है—बड़ा बनना। छोटेपन को छोड़े बिना बड़ा बन ही नहीं सकते। कालेज में भर्ती होने के लिए पाठशाला छोड़नी पड़ती है और गृहिणी बनने के लिए पीहर छोड़ना पड़ता है। यही स्वार्थ-त्याग का अर्थ है।

सेवा का आधार ऐक्य-भावना—सेवा किसकी करें ? जिसको तुम चाहते हो उसी की करनी चाहिए। और प्रेम का अर्थ है ऐक्य-भावना। हम और हमारा प्रेमपात्र दोनों एक ही है, हमारे सुख-दुःख एक ही हैं—यही भावना प्रेम के मूल में है। मां को बेटे के प्रति प्रेम अर्थात् अपनापन अनुभव होता है। अपने-अपने कुटुम्बियों के लिए बहुधा सभी को अपनापन अनुभव होता है। अलबत्ते कुटुम्ब में किन-किन को गिना जाय, इस विषय में भिन्न-भिन्न लोगों की दृष्टि भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणार्थ दादी मां को तो अपने लड़के-लड़की, नाती-पोती, परपोती सभी अपने लगते हैं। और इस कारण वह सबके लिए हर प्रकार के कष्ट उठाये तो उसको यह भावना नहीं होती कि उसकी कोई हानि हुई है या उसने कोई स्वार्थ-त्याग किया है। इसके विपरीत उसकी बहू को अपनी देवरानी-जिठानी के लड़कों के लिए उठाये गये कष्ट अखरे बिना नहीं रहते।

किसी-किसी को अपनी जाति या वर्ग के प्रति अपनापन अनुभव होता है और वे जाति-सेवा की ओर प्रवृत्त होते हैं। कितने ही देश-सेवा को अपना ध्येय बनाते हैं। किसी विशाल-हृदय सज्जन की भावना विश्व-कुटुम्ब की होती है। गीता ने योगी का वर्णन—"सर्व-भूतात्म भूतात्मा" और "सर्वभूत हिते रतः" अर्थात् भूत-मात्र से अपनापन अनुभव करने वाला और सबके हित में रत रहने वाला कह

कर कया है। और इस प्रकार का योगी ही आदर्श सेवक होता है। जिस प्रकार परमेश्वर की—एक मेवाद्वितीय विश्वकर्ता गुणातीत ईश्वर की—भक्ति ही सच्ची भक्ति है, अथवा ३३ करोड़ देवताओं में से अपनी-अपनी रुचि व परम्परा के अनुसार कोई शंकर को तो कोई कृष्ण को, कोई हनूमानजी को तो कोई महाकाली को भजने वाले विभिन्न श्रद्धाओं वाले भक्त हों तो भी उन सबकी भक्ति का अन्तिम उद्देश्य अथवा समर्थन केवल परमेश्वर ही होता है, उसी प्रकार अपने प्रेमियों प्रेमपात्रों की, लड़के-बच्चों की, इष्ट-मित्रों की, सगे-सम्बन्धियों की, जाति-भाइयों की, समाज की, गाँव की, देश की, अथवा अखिल मानव जाति की सेवा करने वाले सेवक का अन्तिम उपास्यदेव भूतमात्र या परमेश्वर ही है। यह स्पष्ट रूप से हो, सो बात नहीं है किन्तु होना यही चाहिए।

ज्ञान की आवश्यकता—ज्ञान-भक्ति-कर्म यह साधना की शृङ्खला है। यह प्रकट है कि सेवा का समावेश कर्म में होता है। बम्बई की सोशल सर्विस लीग (समाज सेवा संघ) के ध्येय वचन "Know, love and serve"—जानो, प्रेम करो और सेवा करो, इस साधन-मार्ग के अनुसार ही हैं। सेवा-मार्ग के अनुशीलन के लिए उचित जानकारी की, ज्ञान की, अथवा दृष्टि की आवश्यकता है। उसी प्रकार भक्ति अथवा उचित प्रेम भी होना चाहिए। प्रेम का अर्थ मोह या क्षणिक जोश नहीं है बल्कि विवेक-युक्त पक्षपात-विहीन और अनासक्त निष्ठा है। इस प्रकार के ज्ञान व भक्ति से सेवा या सत्कर्म अवश्य उत्पन्न होंगे। ज्ञान-भक्ति-कर्म का यह क्रम केवल विवेचना या विचार की सुविधा से किया गया है। वस्तुतः इसका यह अर्थ नहीं कि पहिले पूर्ण ज्ञान, फिर पूर्ण भक्ति और फिर सत्कर्म इस प्रकार ये क्रमशः उत्पन्न होते हैं। ज्ञान, भक्ति, कर्म ये तीनों अपने-अपने तौर पर यों स्वतन्त्र हैं; परन्तु साथ ही साथ वे दूसरों के पोषक और दूसरों से पोषण प्राप्त करने वाले हैं। ज्ञान व भक्ति के बिना भी सत्कर्म हो सकता है

तथा सत्कर्म से भक्ति अधिक प्रगल्भ बन जाती है एवं सम्यग् दृष्टि भी प्राप्त होती है। वैसे ही भक्ति ज्ञान के बिना भी पाई जाती है और वह एक ओर से सत्य ज्ञान की और दूसरी ओर से सत्कर्म की पोषक है कर भ : स पूर्ण प्रगल्भता के लिए ज्ञान की आवश्यकता है और सत्कर्म के बिना तो वह बाँझ ही है। भक्ति-सेवा-रहित ज्ञान अथवा जानकारी एक बार हो सकती है बल्कि यों कहें कि ऐसी-वैसी जानकारी ही संसार की अनेक आपत्तियों की जड़ है, किन्तु भक्ति-सेवा के बिना ज्ञान सार्थक नहीं और ज्ञान रूपी कन्दील (प्रदीप) के बिना भक्ति और कर्म गहन वन में जाकर रास्ता भूल सकते हैं। इस तरह यह आत्मोन्नति की श्रृंखला बल्कि त्रिवेणी है। इसलिए सेवक को ज्ञानी होना चाहिए; साथ ही भक्त भी।

२

प्रेम की प्रगति

आत्मविस्तार की उत्कण्ठा—बिलकुल स्वार्थी अर्थात् केवल अपने ही शरीर के सुखों के पीछे पागल मनुष्य शायद ही संसार में हों। मनुष्य समाज-प्रिय और समाज-निष्ठ प्राणी है। उसे एकाकी जीवन अच्छा नहीं लगता। संगति के बिना उसका जीवन पूर्ण नहीं होता व इसीलिए मनुष्य को संगति के बिना चैन नहीं पड़ता। दुष्ट से दुष्ट मनुष्य को भी अपने अलावा किसी और मनुष्य से प्रेम करना और उसे सुखी करने का प्रयत्न करना आवश्यक मालूम होता है। यदि उसे प्रेम करने के लिए कोई मनुष्य नहीं मिला तो अन्त में वह किसी कुत्ते-बिल्ली से ही प्रेम किये बिना, उसकी हर प्रकार सेवा या लाड़-प्यार किये बिना, नहीं रहेगा।

इस तरह प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वत्व-भावना को अपने साढ़े तीन हाथ शरीर के बाहर फैलाना चाहता है। यह उसका स्वभाव ही है। यह उसके स्वरूप का अनुसरण करके ही होता है। जीवन मूलतः शिव-स्वरूप है। उसे शरीर में बन्द करके रख दिया है तो भी वह शान्त चित्त से नहीं रह सकता। इस जेल की चहारदीवारी को लांघ करके बाहर के विस्तीर्ण मैदान में बेतहाशा घूमने-फिरने की अपनी स्वाभाविक उत्कण्ठा को वह नहीं दबा सकता। इस उत्कण्ठा का ही नाम प्रेम है और उस प्रेम का फल है सेवा।

प्रगति के पड़ाव—परन्तु इस प्रेम की प्रगति की कक्षा, पड़ाव या सीढ़ियाँ होती हैं। इटली का महान देश-भक्त जोसेफ मैजिनी स्वतः ब्रह्मचारी था परन्तु एक स्थान पर उसने बड़ी मार्मिकता से कहा है कि "माता का पवित्र चुम्बन बालक को प्रेम का पहिला पाठ पढ़ाता है।

अपनी प्रियतमा के पहिले चुम्बन से तरुणों के मन में जीवन के प्रति श्रद्धा होने लगती है।" यह एक दृष्टि से ठीक भी है। परन्तु प्रेम का अर्थ आसक्ति, मोह, क्षणिक जोश, या विकार नहीं है। यह ठीक है कि प्रत्यक्ष व्यवहार में प्रेम के जो नमूने दिखाई देते हैं वे इस प्रकार के क्षणिक जोश जैसे ही होते हैं। मातृ-प्रेम की समता दूसरे किसका प्राप्त हो सकती है? तो भी वह आदर्श प्रेम नहीं है; आदर्श की ओर प्रगति करने का एक जोरदार किन्तु अनगढ़ प्रयत्न है; अथवा प्रेम की पाठशाला में वह पहिला पाठ है। मातृ-प्रेम, बन्धु-प्रेम, मित्र-प्रेम, पति-पत्नी-प्रेम ये सब आत्मविकास के मार्ग की प्राथमिक सीढ़ियाँ या पड़ाव हैं, अन्तिम उद्देश्य नहीं। इन सीढ़ियों को ही यदि हम 'अन्तिम मञ्जिल' समझ कर रुक गये तो हमारी स्थिति "ज्ञानलवदुर्विदग्ध" के समान (थोड़े से ज्ञान से चौकड़ी भूल जाने वाले जैसी) हो जायगी। प्रेम का प्रवाह सतत एक सा आगे-आगे बहता रहना चाहिए। कुटुम्बियों से सम्बन्धियो की ओर, इष्ट मित्रो की ओर, अड़ोसियों-पड़ोसियों की ओर, गाँव वालों की ओर, जाति-भाइयों की ओर, देश-बन्धुओं की ओर, अखिल मानव जाति की ओर व अन्त में भूत मात्र की ओर वह आगे बढ़ता जाना चाहिए। यदि वह बीच में ही रुक गया तो बँधे हुए पानी की तरह कलुषित और अनर्थकारी भी हो सकता है।

हमने पिछले प्रकरण में जो यह कहा है कि पत्नी और माता धन्य है वह बिलकुल ठीक है। पहिली कक्षा पास होकर दूसरी में बैठने वाला बालक उतने ही अभिनन्दन का पात्र है जितना कि एम० ए० की डिग्री प्राप्त करने वाला परन्तु दूसरी कक्षा में प्रवेश करने का अर्थ विद्वत्ता की इतिश्री है, ऐसा न बालक को समझना चाहिए न उस डिग्रीधारी को ही। उनको तो अपना-अपना विद्याभ्यास अखण्ड रूप से चलाते रहना उचित है। इसी न्याय से बाल-बच्चों के भरण-पोषण में दिन-रात लगे हुए माँ-बाप आदरणीय अवश्य हैं किन्तु यह न मान लेना चाहिए कि उन्होंने निःस्वार्थता की पराकाष्ठा कर दी है; बल्कि उनकी यह कुटुम्ब-

सेवा उनके श्रेष्ठ कर्तव्य में बाधक भी हो सकती है। और प्रत्यक्ष अनुभव तो ऐसा ही है कि अपने बच्चों की निष्ठा-पूर्वक सेवा करने वाले माँ-बाप दूसरों के बच्चों को सताने में भी आगा-पीछा नहीं देखते। यदि बाँझ से माता श्रेष्ठ है तो माता से संन्यासिनी हजार गुना श्रेष्ठ है। क्योंकि वह जगदम्बा (संसार की माँ) है। हजरत ईसा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि जब वे धर्मोपदेश करते हुए फिर रहे थे तो एक दफा उसकी माँ उनसे मिलने के लिए आई। "तुम्हारी माँ तुमसे मिलने आई है।" किसी के इतना कहते ही ईसा ने कहा—"मेरी माँ ? मैं माँ वा किसी को नहीं जानता।"

प्रेम की सीढ़ियां—अपत्य-प्रेम, बन्धु-प्रेम, मित्र-प्रेम ये सब प्रेम की उत्तरोत्तर सीढ़ियाँ है परन्तु सीढ़ियाँ जिस प्रकार उन्नति के साधन हैं उसी प्रकार अवनति के भी हो सकती हैं। किसी भी एक सीढ़ी पर खड़ा मनुष्य चढ़ भी सकता है और उतर भी सकता है। प्रेम-विकास की कोई भी मर्यादा—कुटुम्ब, गाँव, जाति, देश आदि प्रगति की एक मञ्जिल की दृष्टि से सराहनीय है; परन्तु उसी स्थान पर अपना घर बना कर रह जाने की इजाजत नहीं है। और यदि वह मुकाम पीछे हटने वाला हुआ, देश से जाति की ओर या जाति से कुटुम्ब की ओर लौटने वाला हुआ—तब तो वह विशेष ही शोचनीय व निषेध के योग्य है।

हम जिन्हें दुष्टतापूर्ण और निर्दय कृत्य समझते हैं वे भी दरअसल प्रेम से ही उत्पन्न होते हैं। इतना ही कि वह प्रेम संकुचित होता है। डाकू लोग जो लूट-पाट और उसके लिए मार-काट व खून-खराबी करने के लिए तैयार हो जाते हैं वह भी बहुधा प्रेम के कारण ही—अपने बाल-बच्चों के सुख या प्रिय पत्नी के गहनों की लालसा पूरी करने की (अपनी समझ से) निःस्वार्थ भावना से ही प्रेरित होकर। दूसरे राष्ट्रों को हिटलर भले ही राक्षस-जैसा लगता हो किन्तु वह भी अपने जर्मन राष्ट्र को वैभव के शिखर पर चढ़ाने के उच्च व निरपेक्ष उद्देश्य से अपनी सुख-सुविधा या वैयक्तिक स्वार्थ की तिल भर भी परवाह न

करके अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी रात-दिन अथक प्रयत्न करता है। जाति-निष्ठ नेता भी जाति-हित के लिए अपने सर्वस्व की आहुति देने को सदैव कटिबद्ध रहते हैं। इस प्रकार कुटुम्ब-निष्ठा जाति-निष्ठा व राष्ट्रनिष्ठा आत्मीयता के विकास की मञ्जिलें हैं। कुटुम्ब-निष्ठा की अपेक्षा जाति-निष्ठा व जाति-निष्ठा की अपेक्षा राष्ट्र-निष्ठा श्रेष्ठ अवश्य ही हैं, परन्तु ऐसी संकुचित निष्ठा में से—फिर वह निष्ठा कितनी ही विस्तृत क्यों न हो, अनर्थ ही उत्पन्न होता है।

व्यापक या संकुचित—यह महत्व का प्रश्न नहीं है कि निष्ठा कितनी विस्तृत है, बल्कि यह कि उसका मुँह किस तरफ है। वह फैलती जा रही है या सिकुड़ती जा रही है, पूर्वाभिमुख है या पश्चिमाभिमुख है। क्योंकि एक ओर से जो प्रेम दिखाई देता है वह दूसरी ओर से वैर भी हो सकता है। प्रेम के सिक्के की पीठ पर द्वेष की भी छाप लगी रहती है। ऐसा वैरयुक्त प्रेम सच्चे प्रेम का विकृत या गन्दा स्वरूप है। प्रेम या सेवा का क्षेत्र कितना ही सीमित हो तो हर्ज नहीं है। अपने-अपने बूते के माफिक यदि कोई अपने कुटुम्ब की, सगे सम्बन्धियों की, इष्ट-मित्रों की, जाति की, गाँव की, पंच-क्रोशी की, जिले की, प्रान्त की या राष्ट्र की सेवा अंगीकार करता है तो इसमें कुछ बुराई नहीं है। ऐसी सभी सेवाएँ वांछनीय ही हैं। परन्तु यह निष्ठा श्रेष्ठ निष्ठा में बाधक न होनी चाहिए। हमारी जाति-निष्ठा जातिव्यापक होनी चाहिए, जाति-संकुचित नहीं। पुत्र-प्रेम भानजे-भतीजे के प्रति द्वेष कारण न बन जाना चाहिये। किन्तु उलटा जैसा हमारा लड़का वैसा ही दूसरे का, इस विचार से दूसरों के बालकों पर भी उतनी ही हार्दिकता से प्रेम करना सीखने का साधन बनना चाहिए। मित्र-प्रेम ही मनुष्य-मात्र के प्रति मित्र भाव अंकित कराने वाला पाठ बनना चाहिए। "नदीमुखे नैव समुद्रमाविशेत्" इस न्याय से जिले या प्रान्त की सेवा के मार्ग से ही हम देश-सेवा की ओर प्रगति करें। परन्तु देशसेवा भी तो एक समुद्र ही ठहरा; वह महासागर का एक भाग मात्र है। यह

महासागर है अखिल मानव-समाज। परन्तु हिन्द महासागर, प्रशान्त व अतलान्त इत्यादि महासागर भी मूलतः एक दूसरे से जुड़े हुए एक ही विश्वसागर के अंग हैं। इसी प्रकार मानव समाज भी भूतमात्र का एक अवयव है। अतः हमारे प्रेम व सेवा की परिसमाप्ति सर्वभूत-हित-साधन में ही होनी चाहिए और उसके पहिले की प्रत्येक मंज़िल इस अन्तिम साध्य के लिए अविरोधी व पोषक ही होनी चाहिए।

आत्मा वारे द्रष्टव्यः—अथवा अपत्य, बन्धु, मित्र, देश-बान्धव को इस विश्वात्मा की प्रतिमा समझ कर ही उनकी उपासना करनी चाहिए पर्वतों के सिरपर गिरने वाला पानी थोड़ी देर के लिए गटर, नाले, निर्झर, नदी आदि में मिलता हुआ दिखाई देता है; तो भी जिस प्रकार उसका अन्तिम ध्येय विश्व-सागर में मिलकर तद्रूप होना ही है और उस ध्येय की पूर्ति के लिए वह गटर, नाली आदि का क्षणिक आश्रय ले लेता है उसी प्रकार कुटुम्ब, जाति, राष्ट्र इत्यादि की सेवा का अन्तिम हेतु—चाहे वह सेवक के हृदय में व्यक्त हो या अव्यक्त—विश्वात्मा की सेवा और उससे तद्रूप होना ही है। इसी को कोई ईश्वर-प्राप्ति या आत्मदर्शन आदि नाम भी दे देते हैं। पति, पुत्र, बन्धु, मित्र ये सब ईश्वर के प्रतिनिधि के नाते से ही प्रेम व सेवा के पात्र हैं। इसीलिए उपनिषद में स्पष्ट कहा है—"नवारे पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति" पति का प्रेम पति-मूलक नहीं परमात्मा-मूलक है। "पति की तरह ही बाप, भाई, इत्यादि प्रियजनों के प्रति होने वाले सारे प्रेम का मूल आत्मा या परमेश्वर ही है"—ऐसा कहकर अन्त में सिफारिश की है कि—"आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः" उस प्रियतम आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन, चिन्तन करो।

सेवा-योग का रहस्य पूर्ण तरह समझ लेने के लिए हमको जीव, जगत, ईश्वर के स्वरूप व इनका सम्बन्ध अवश्य जान लेना चाहिए।

३

जीव, जगत् व ईश्वर

देह की एकता—हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न अनेक अवयव हैं। ये भाग यद्यपि बाहर से भिन्न व अलग दीख पड़ते हैं तो भी सब एक साथ जुड़े हुए, परस्परावलम्बी, परस्पर-पोषक व इस अर्थ में एक हैं। यदि हाथ, पाँव, आँख आदि अलग-अलग अवयव हम एक टोकरी में जमा कर लें तो उससे शरीर नहीं बन सकता, केवल एक ढेर हो सकता है। ढेर की वस्तुएँ एक दूसरे के पास पड़ी रहने पर भी परस्पर सम्बद्ध नहीं रहती। शरीर की बात ऐसी नहीं है। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों या अवयवों में परस्पर सम्बन्ध रहता है, विशिष्ट रचना रहती है और एक ही तत्व—प्राण—सारे शरीर में संचार करता है। इसलिए यह शरीर अनेक पेशी, ग्रन्थि, अणु इत्यादि से बना होने पर भी एक है।

सारी सजीव वस्तुओं का यही हाल है। जीवित पेड़ एक है। उसे काट तोड़ कर यदि लकड़ियों का ढेर लगा दें और उन लकड़ियों को एकत्र कर दें तो भी वह एक नहीं कहला सकता। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के अभिन्नत्व का, अनेक में एक का, यह एक अजब नमूना है। यह सब से बड़ा सृष्टि-चमत्कार है।

ऐक्य के प्रकार—परन्तु इस ऐक्य के कई प्रकार हैं। दूब-जैसी वनस्पति की अपेक्षा आम का पेड़ अधिक परिमाण में एक है। दूर्वा का एक टुकड़ा तोड़ कर यदि मही में रोप दें तो वह स्वतन्त्र रूप में जीवित रह सकता है। दूब में अंकुर, कल्ला, पल्लव, आदि अवयव-भेद और प्रत्येक अवयव के स्वतन्त्र कार्य होते हैं। परन्तु दूब से भी अधिक सरल

रूप के काई जैसे या संचित पानी पर तैरने वाली वनस्पति जैसे में ये अवयव-भेद इतने स्पष्ट या तीव्र नहीं होते और एक भाग अपने जीवन के लिए दूसरे भागों पर अधिक अवलम्बित नहीं रहता। किन्तु दूब में यह भेद व इसके साथ ही परस्परावलम्बन अर्थात् अभेद अधिक होता है। आम के पेड़ में अंकुर, कल्ला, टहनी, डाली, पत्ते, फूल, फल व बीज इनका भेद अधिक स्पष्ट होता है और वे एक दूसरे पर विशेष रूप से अवलम्बित रहते हैं। उनमें एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता। तथापि यह परस्परावलम्बन आम के पेड़ में भी एक सीमा तक ही होता है। आम के वृक्ष की बड़ी-बड़ी शाखाएँ काट दी जायँ तो भी शेष भाग जैसे का तैसा जीवित और बढ़ता रहता है। उसी प्रकार यदि आम की डालियों की कलमें काट कर भिन्न-भिन्न जगहों पर लगा दी जायँ तो अपना-अपना स्वतन्त्र संसार बना सकती हैं। कितने ही पेड़ों के तो टुकड़े ही जमीन में लगा देने से उतने ही स्वतन्त्र झाड़ बन जाते हैं। लेकिन पशु या मनुष्य के शरीर के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। अगर पशु के शरीर का एक भाग काट दें तो शेष भाग उस कटे अवयव को उत्पन्न करके अपना स्वतन्त्र जीवन नहीं चला सकता। (सत्युग की एक दिव्य औषधि के प्रभाव की एक कहानी कही जाती है कि एक बिल्ली की पूँछ टूट गई तब उस जख्म पर एक औषधि के लगाते ही तुरन्त वह पूँछ फूट निकली और फूटी हुई पूँछ की जड़ में औषधि लगाते ही उसमें से बिल्ली फूट निकली। परन्तु कलियुग की इस भ्रष्टता के कारण औषधि में भी वह पहले का गुण नहीं रहा !) मनुष्य या पशु के शरीर में प्रत्येक अवयव का कार्य भिन्न-भिन्न और दूसरे अवयवों पर पूरी तरह अवलम्बित रहता है। उस शरीर के टुकड़े स्वतन्त्र रूप से जीवित नहीं रह सकते: तथापि इस शरीर के हाथ, पाँव आँख, कान, नाक जैसे एक या अधिक अवयव नष्ट हो गये तो भी बाकी शरीर उसका अनुगमन न करते हुए अपंग रह कर भी जी सकता है। नख व बाल जैसे फालतू अवयवों की तो वह तनिक भी परवाह नहीं

करता और यदि असली दाँत गिर जायँ तो नकली दाँत चढ़ा कर भी काम चला लेता है। तो भी मनुष्य-शरीर अपेक्षाकृत अधिकांश में एक है। इस ऐक्य की एक खूबी यह है कि उसका एक-एक अवयव या भाग एक विशेष ही शकल का होता है, उसी तरह की हूबहू दूसरी चीज तीनों लोक में कहीं नहीं मिलेगी। हम कहते हैं कि दो मनुष्यों के चेहरे कभी एक जैसे नहीं होते। चेहरा देखते ही हम सारे शरीर को पहिचान सकते हैं; हाथ, पैर, नाक, कान आदि सब की पहिचान चेहरे पर से हो जाती है। किन्तु केवल चेहरे ही नहीं, किन्हीं भी दो मनुष्यों के कोई अन्य अवयव या भाग एक जैसे नहीं होते। अन्धे आदमी दूसरों को केवल हाथ के स्पर्श से ही पहिचान लेते हैं। चमार मनुष्य को उसके कदम से पहिचान लेता है। स्वर से, चाल से, पाँव की आहट से, खकारने से और ऐसे ही अनेक छोटे-बड़े चिह्नों से परिचित लोगों को हम पहिचान लेते हैं। चतुर लोग चेहरे से स्वभाव, दृष्टि पर से वृत्ति, स्वर पर से शिक्षण, चाल पर से अमीरी-गरीबी पहिचान लेते हैं। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है।

सारी सृष्टि की एकता—ज्ञानी लोगों का कहना है कि जैसे मनुष्य शरीर एक है वैसे ही सारी सृष्टि भी एक है; बल्कि यों कहें कि मनुष्य-देह से भी यह अखिल सृष्टि ज्यादा एकजीव है। मिट्टी के एक गणपति की सूँड निकाल कर दूसरे गणपति को जोड़ देना कारीगर के लिए सम्भव है; परन्तु एक आदमी की नाक दूसरे मनुष्य को लगा देना शस्त्र-वैद्यों के लिए भी (अभी तक तो) सम्भवनीय नहीं हुआ है। उसी प्रकार बल्कि उससे भी कितने ही गुना ठीक तरह से सृष्टि की प्रत्येक वस्तु निश्चित समय पर, निश्चित जगह पर मूल-भूत योजना का अनुसरण करती हुई उसी विशिष्ट प्रकार से होती है। सृष्टि में कुछ भी फालतू नहीं है। कोई भी त्रुटि-कसर नहीं है। सब कुछ व्यवस्थित, नियमित, यथाकाल, यथायोग्य, यथास्थान रचित व स्थित है। एक के जैसी दूसरी चीज नहीं है; एक की जगह दूसरा

भर नहीं सकता; एक तिनका भी अपना विशिष्ट आत्यन्तिक महत्व रखता है। प्रत्येक वस्तु अपरिहार्य है। उसके अभाव में यह संसार-रूपी रहँट जहाँ का तहाँ रुक जायगा। घड़ी का एक आध बारीक-सा स्क्रू भी यदि खो गया या बिगड़ गया तो सेकण्ड के काँटे की चंचल चाल रुक जाती है। हो सकता है कि कोई हिकमती वाचमेकर स्क्रू के बजाय तार का टुकड़ा ही जोड़ कर काम निकाल ले। परन्तु यदि इस सृष्टि-रूपी घड़ी का स्क्रू टूट कर गिर जाय तो दूसरा तार का टुकड़ा सृष्टि के बाहर से लायेंगे कहाँ से? परन्तु बात यह है कि इस घड़ी का ढाला स्क्रू मिलेगा ही नहीं। यह घड़ी तो काल के अन्त तक की गैरंटी वाली है। चाबी भी उसे एक ही बार हमेशा के लिए दे दी गई है।

यह सृष्टि-व्यवस्था अज्ञानी मनुष्य की समझ में नहीं आ सकती। परन्तु जैसे-जैसे ज्ञान की प्रगति होने लगती है वैसे-वैसे ही सृष्ट पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध क्रम-क्रम से स्पष्ट होने लगता है। उदाहरणार्थ वनस्पति के पत्ते की आकृति पर से उसके बीज की आकृति का अनुमान लगाया जा सकता है, बीज पर से वृक्ष का कल्ला, पत्ते, जड़, कैसे होंगे यह बताया जा सकता है। गुलाब में काँटे क्यों हैं? नारियल के पेड़ में टहनियाँ क्यों नहीं हैं? आम मीठा क्यों है और नीम कड़वा क्यों है? इन सब के कारण व चारों ओर की परिस्थितियों से उसका अनिवार्य सम्बन्ध ज्ञान की प्रगति के साथ-साथ अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। वनस्पति-शास्त्रज्ञ नारियल का फल देखकर नारियल के पेड़ का चित्र खींच सकता है। अथवा वह जहाँ पैदा होता है वहाँ की जमीन या जलवायु का वर्णन कर सकता है। मनुष्य को हम उसके चेहरे पर से पहिचान लेते हैं, परन्तु अधिक परिचय से जिस तरह उसके किसी एक अवयव पर से उसे पहिचान लेते हैं उसी प्रकार किसी प्रदेश की पहिचान उसके किसी वृक्ष या प्राणी पर से भी हो सकती है? प्रत्येक वृक्ष या प्राणी मानो उस उस प्रदेश का एक-एक चेहरा ही है और सारा मुल्क मानो एक शरीर है।

परन्तु वह पूर्ण देह नहीं है—वह तो बड़े शरीर का एक अवयव-मात्र है। सारा विश्व एक पूर्ण देह है। और विश्व की प्रत्येक वस्तु मानो उसका एक चेहरा ही है। गीता और उपनिषद में इस सारे विश्व को पीपल के वृक्ष की—अश्वत्थ की—उपमा दी गई है। अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ एक गिरी हुई दीवार पर उगी हुई घास को सम्बोधित करके कहता है—"अरे घास, जब मुझे तेरे सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान हो जायेगा तब मुझे जीव, जगत् और ईश्वर के सम्बन्ध में भी सम्पूर्ण ज्ञान हो जायगा।"

विश्व-चेतन है—वृक्ष की या शरीर की जो एकता है वह उसकी सजीवता के, सचेतनता के कारण है। मृत शरीर एक नहीं है, थोड़े ही समय में उसकी मिट्टी हो जायगी, या पृथ्वी, जल, वायु आदि पंच महाभूतों में वह विलीन हो जायगा। इन महाभूतों को एकत्र करके उनको शरीर का रूप देने वाला यह देहस्थ प्राण ही है। वह प्राण ही हवा, पानी, मिट्टी, इत्यादि से इस शरीर को बनवाता रहता है।

विश्व-रूप अश्वत्थ या शरीर भी चेतन ही है, क्योंकि चैतन्य के बिना ऐक्य, व्यवस्था, रचना, योजना सम्भव ही नहीं है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारे व ग्रहों की गति, ऋतुओं का चक्र, फसलें, सृष्टि की विविध शक्तियाँ व उनके धर्म इन सबका अध्ययन जैसे-जैसे किया जाता है, वैसे-वैसे ही इस विश्व-देह की सुयन्त्रता अधिकाधिक प्रत्यक्ष होने लगती है। इस विश्व-रूपी देह में जो चैतन्य है, या इस ब्रह्माण्ड में जो ऐक्य-तत्व है उसी का नाम ईश्वर है।

जिस प्रकार अश्वत्थ वृक्ष को अनन्त जड़ों व पत्तों के द्वारा—शाखा, टहनी, फूल व फलों के द्वारा—एक ही मध्यवर्ती व सर्व-व्यापी चैतन्य संचार कर रहा है उसी प्रकार इस विश्व के अनन्त प्रकार में भी एक ही चैतन्य व्याप्त हो रहा है और सबको सतेज बना रहा है। जिस प्रकार विशाल अश्वत्थ वृक्ष भी राई के बराबर बीज में समाया हुआ है,

उसी प्रकार यह विश्व-व्यापी परमेश्वर भी "अणोरणीयान् महतो महीयान्"—अणु से भी बारीक और विशाल से भी विशाल है।

उस ईश्वर का वर्णन करने के लिए "पृथ्वी के बराबर कागज और समुद्र के बराबर स्याही भी काफी नहीं है" परन्तु यहाँ तो हमें फाउंटेनपेन में की स्याही से वर्त्तमान युद्ध के मँहगे कागज पर संक्षेप में ही सेवक के सेवाचरण की आधार-भूत श्रद्धा को स्पष्ट करना है। यह जग केवल एक हू-हल्ला और अव्यवस्था नहीं है। वह एक सुसंगठित रचना है। उसका शासक है; उसमें विकल्प नहीं, अपघात नहीं। सृष्टिकर्त्ता चिन्मय ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। वह हम सबका आधार है। उसने हम सबको बनाया है। वही हमारा पालन-पोषण करता है; कुछ समय के बाद हम सब फिर उसी में विलीन हो जायँगे। हम भले ही नश्वर हों; किन्तु वह शाश्वत है। हम दुर्बल हों, किन्तु वह सर्वशक्तिमान है। हम अपूर्ण हों, किन्तु वह पूर्ण है। हम दुःखी हों, परन्तु वह आनन्दघन है। हम स्खलनशील हों, परन्तु वह योगेश्वर है। परन्तु वह हमसे अलग नहीं है। इसीलिए हम ही शाश्वत, पूर्ण, आनन्दमय सब-कुछ हैं। ईश्वर क्या है, हमारा ही सर्वोच्च और व्यापक स्वरूप है। धर्म, नीति, इत्यादि नाम इस स्वरूप की साधना के ही हैं।

मानवी कुटुम्ब—हम सब लोग उस ईश्वर के बच्चे हैं, अतः परस्पर भाई-भाई हैं।—भाई भाई ही क्यों, हम सब सब प्रकार एक ही हैं। जिस प्रकार एक ही ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ होती हैं, या एक ही साँचे के अनेक सिक्के होते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्य भी एक ही मनुष्यत्व की असंख्य प्रतियाँ हैं। जिस प्रकार एक ग्रन्थ की अनेक आवृत्तियाँ निकलती हैं उसी प्रकार मनुष्यों के भी अनेक वेश निर्माण हो गये हैं। अथवा इस ग्रन्थ के कागजों में भले ही अन्तर हो किन्तु अक्षर का मतलब सब में एक ही है। यह बिलकुल ठीक है कि मनुष्य समाज में अनेक प्रकार के फर्क पाये जाते हैं, परन्तु एक वृक्ष के पत्तों में भी फर्क होता है। एक पत्ते जैसा हूबहू दूसरा पत्ता नहीं मिलेगा।

ईश्वरीय सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में—एक तिनके में भी विशेषता है। व्यावहारिक काम-चलाऊ दृष्टि से एक मनुष्य की जगह दूसरा मनुष्य, एक कारकुन की जगह दूसरा कारकुन, या एक कुली की जगह दूसरा कुली चल सकता है। परन्तु उस कुली के कुटुम्बियों के लिए या एक के बजाय दूसरा आदमी चल सकेगा? सारांश यह है कि मनुष्य मनुष्य में कितनी ही पृथकता क्यों न हो, तो भी वृक्ष के पत्तों की तरह हम सब लोग एक ही मानव-वंश-वृक्ष के पत्ते हैं।

ऐसा समझने का कोई कारण नहीं कि 'मानवी कुटुम्ब' एक अलंकारिक शब्द-प्रयोग है। वास्तव में वह वस्तुस्थिति का निदर्शन ही है। मनुष्य पूर्णतः समाजनिष्ठ व समाजावलम्बी प्राणी है। पशु-जीवन की अपेक्षा मनुष्य जीवन कितने ही गुना अधिक समृद्ध है और इस समृद्धि का आधार हैं उनकी पारस्परिक सहकारिकता। मेरा घर व आहार, घर का सामान, कपड़े-लत्ते, दिया-बत्ती, चश्मा-घड़ी, व फाउंटेनपेन, पुस्तकें व अखबार, सिनेमा व नाटक, रास्ते, पुल, मोटर रेल, जहाज, डाक, तार, टेलीफोन व रेडियो—हमारे इस सुख-सुविधा-पूर्ण व समृद्ध जीवन के मूल में सारी मानव जाति का युग-युग का सहकारी श्रम संचित है।

मनुष्य को मालूम हो या न हो, इच्छा हो या न हो, वह समाज की सेवा करता रहता है। और उससे सेवा लेता रहता है। समाज के कारण स्वयं दुःख भोगता है, और अपने कारण समाज को दुःख में डालता रहता है। यदि क्षण भर के लिए ऐसा मान लें कि जिन्होंने आज कल भाप के इंजिन, बिजली, फोटोग्राफी, ध्वनि- मुद्रण, आदि क्रान्तिकारी आविष्कार किये, वे पूर्णतः स्वार्थी मनुष्य थे, तो भी उनके आविष्कार का लाभ संसार को मिले बिना कोई चारा नहीं था। अपने लाभ के लिए भी उस आविष्कार का लाभ दूसरों को देना अनिवार्य था। और इतने महत्व के आविष्कारों का जिक्र दूसरों से किये बिना उन्हें चैन नहीं पड़ी होती, तो अलग। इस तरह मनुष्य का

जीवन परस्पर-संमिश्र होने के कारण अत्यन्त स्वार्थी मनुष्य भी अपना स्वार्थ दूसरों के स्वार्थ को साधे बिना नहीं साध सकता। यदि मैं स्वयं-स्फूर्ति से अथवा अपने ही मनोरञ्जन के लिए गाने लगा और अगर मेरा कंठ सुस्वर हुआ तो मैं अपने आस-पास के लोगों को भी आनन्दित कर दूँगा और कर्कश हुआ तो लोगों के दिमाग को परेशान कर दूँगा। व्यापार मनुष्य मनुष्य में सहकारिता का एक महत्वपूर्ण विभाग है। अर्थ-शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि विनिमय अर्थात् खरीदी और बिक्री से दोनों पक्ष को लाभ होता है। यह सिद्धान्त जल्दी ही समझ में आने जैसा है। पहाड़ के मनुष्य को मछली व कोंकण (महाराष्ट्र) के लोगों को तम्बाकू अपूर्व मालूम होती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने पास का फालतू माल दूसरों को देकर उनका फालतू माल खुद ले लेता है। इस तरह प्रत्येक का कचरा-कूड़ा दूसरे के लिए ऐश्वर्य बन जाता है।

सुख-दुःख सम्मिलित—यह बात हमें फौरन पट जाती है कि हमारे और हमारे कुटुम्ब के सुख-दुःख एक हैं, घुले-मिले हैं। परन्तु समाज भी तो एक बड़ा कुटुम्ब ही है और उसके सुख-दुःख भी एक दूसरे से मिले हुए हैं। यह बात थोड़े से ही विचार से ध्यान में आ जाती है। एक छोटे कुटुम्ब में जिस प्रकार एक व्यक्ति के बीमार हो जाने से दूसरे सब लोग अस्वस्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार गाँव में प्लेग, हैजा, महामारी जैसे संक्रामक रोग फैलने से मेरा भी जीवन खतरे में पड़ जाता है। यदि देश में क्षय रोग फैल गया तो वह घातक रोग कब मुझ पर या मेरी प्रियतमा पर हमला कर देगा, यह नहीं कह सकते। दरिद्रता और पौष्टिक आहार की कमी क्षय-रोग का मूल कारण है।

समाज में यदि दारिद्र्य रहेगा तो मुझे भी क्षय हो जायेगा। और गंदगी रहेगी तो मुझे भी चेचक से पीड़ित रहना पड़ेगा अतः मुझे अपने ही आरोग्य के लिए समाज में से दारिद्र्य, गंदगी और अज्ञान दूर करने चाहिएँ। गाँव में यदि दुर्व्यसनी लोग हैं तो नहीं कहा जा सकता कि मेरा लड़का भी कब उस व्यसन में पड़ जायगा। यदि मेरे देश-भाई दब्बू और निकम्मे हैं तो गुलामी का अपमान और जिल्लत मेरे भी हिस्से में आये बिना न रहेगी। मेरे किसी भाई ने यदि कोई बुरा काम किया तो लोगों में जैसे मेरा भी सिर नीचा हो जाता है, वैसे ही मेरे देश-भाइयों के दोषों से भी संसार में मेरी छीः-थू होती है। पारसी लोग अपनी जाति के किसी भी आदमी को भीख नहीं माँगने देते; क्योंकि वे मानते हैं कि एक पारसी की अप्रतिष्ठा सब पारसियों की अप्रतिष्ठा है। हिन्दुस्तान में कुछ जातियाँ मुरदार मांस खाती हैं। यह प्रश्न छोड़ दिया जाय कि वह अच्छा है या बुरा तो भी विदेशों में "हिन्दुस्तानी मुरदा मांस खाते हैं" यह कह कर सारे ही हिन्दुस्तानियों को कलंक लगाया जाता है। यदि हमारे ग्रामीण निरक्षर और अनाड़ी हैं तो मेरी सच्ची साहूकारी पर भी वे हर तरह से संदेह करेंगे। अगर आस-पास के लोग अकाल-ग्रस्त होंगे तो इसका नियम नहीं कि कब मेरे घर पर भी डाका आ पड़ेगा।

यह अनुभव किसे नहीं है कि जैसे घर के लोग हमारे काम आते हैं उसी तरह अड़ोसी-पड़ोसी, मित्र और कई बार तो अपरिचित व्यक्ति भी सगे भाई से ज्यादा हमारी मदद के लिए दौड़ आते हैं। अलग रहने वाला भाई भी विशेष अड़चन के समय मेरी सहायता के लिए दौड़ा हुआ आता है। उसी तरह यदि मेरे घर में आग लग गई तो गाँव के सारे बूढ़े-बालक तक उसे बुझाने के लिए दौड़ पड़ते हैं। बिहार, या जापान में भी भूकम्प होने पर हम बेचैन हो जाते हैं और यहाँ से आपत्ति-ग्रस्त लोगों को मदद भेजते हैं। मलाबार में बाढ़ से गाँव बह जाते हैं तो बंगाल से भी रामकृष्ण-मिशन के लोग मदद के लिए दौड़

आते हैं। मानव-जाति एक बहुत बड़ा कुटुम्ब ही है;—इस सम्बन्ध की जानकारी देने के ही लिए तो ईश्वर बीच-बीच में ऐसे प्रसंग नहीं ला देता है?

सहानुभूति—सहानुभूति एक अजीब चीज़ है। वह मुझे दूसरों के दुःख में दुखी और सुख में सुखी बनाती है। बड़े आदमियों को रोता देखकर छोटे बच्चे, रोने का कारण न मालूम होने पर भी, रोने लग जाते हैं लेकिन प्रौढ़ मनुष्यों को भी इस बात में बड़े आकार के बच्चे ही समझना चाहिए। घर वाली का मलिन मुख देखकर गृहपति को भोजन अच्छा नहीं लगता। यदि बम्बई में चौपाटी पर घूमते हुए मुझे सब लोग उदास दिखाई दिये तो सम्भव है कि मैं घर वापिस न जाते हुए वहीं समुद्र में आत्म-हत्या कर डालूँ। इसके प्रतिकूल ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं कि आत्म-हत्या करने जाने वाला मनुष्य भी मार्ग में किसी भोले-भाले चपल बालक की सहज मुसकान देखकर घर वापिस लौट गया है। इस सहानुभूति के व्यापार को हम जाति, वंश, वर्ण, वर्ग, पद आदि अनेक कृत्रिम भेदों की कल्पना करके रोक देने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु कभी-कभी यह पर्दा अचानक हट जाता है और हृदय का हृदय से सीधा मिलाप हो ही जाता है। मालिक और नौकर, काला और गोरा, मजिस्ट्रेट और मुल्जिम सब एक ही मिट्टी के पुतले हैं—ऐसा अनुभव होता ही है।

बहुत से धनीमानी लोग काफी पैसा खर्च करके अपने बँगले के आस-पास बगीचा लगवाते हैं। वह उच्च अभिरुचि का लक्षण है। लेकिन यदि उन्होंने अपने आस-पास प्रसन्न और प्रफुल्ल मानवी सुख-कमलों का बाग खिलाया तो वह कितना ही गुना अधिक सुशोभित न दिखाई देगा? और क्या उसमें उच्चतर अभिरुचि नहीं दिखाई देगी?

सच्ची सम्पत्ति—तो फिर सच्ची संपन्नता किसे कहें? जिसके नाम पर बैंक में बड़ी-बड़ी रकमें जमा हों वह धनी है या जिसके कोठार में सोने-चाँदी के बर्तन ताले में बन्द हैं और खड़ा पहरा लग रहा है वह

धनी है, या जिसके पास हाथी-घोड़े, दास-दासी हैं वह धनी है? एक ग्रीक माता की कहानी कही जाती है कि उसके घर एक 'धनी' स्त्री मेहमान आई थी। उसने उसे अपने संदूक में से बढ़िया-बढ़िया गहने दिखाकर कहा—"अपने गहने मुझे दिखाओ।" तब उसने अपने सुन्दर सुकुमार पुत्र की ओर उँगली करके कहा—"देखो यह मेरा गहना है।" वह मेहमान इस पर लज्जित हुई या नहीं यह तो कहानी में नहीं कहा गया है। यदि वह नहीं हुई हो तो उसकी मन्द बुद्धि पर दया ही आनी चाहिए।

संसार में अच्छे मित्र से बढ़कर कौनसी सम्पत्ति है? कुबेर की सम्पत्ति और इन्द्र का ऐश्वर्य भी क्या अच्छे मित्र की बराबरी कर सकता है? फिर सच्चा व्यवहारी कौन है? मनुष्यों को तोड़कर सिक्के जोड़ने वाले या

> "लोक सब मम, हुए लोकपाल।
> सगे हैं सकल प्राणसखा॥"

इस तरह का ऐश्वर्य संपादन करने वाले तुकाराम सच्चे व्यवहारी? तब क्या सेवा ऐसा ही व्यापार नहीं है जिससे वास्तविक और श्रेष्ठ सम्पत्ति प्राप्त होती है?

जीवन-संग्राम—परन्तु इस संसार में सभी लोगों की सुख-सुविधा हो जाना अनेक लोगों को असंभव मालूम होता है। संसार में ऐसी स्थिति है कि अन्न कम और मुँह बहुत हैं। नौकरियाँ थोड़ी और प्रार्थी बहुत; जगह कम और मुसाफिर बहुत। सभी बराबर बाँट कर खावें तो किसी का भी पेट न भरे। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को संसार की फिकर छोड़कर यही सोचना चाहिए कि अपना काम किस तरह बन जाय। परोपकार की बातें करें तो परन्तु केवल दूसरों को झुकाने के ही लिए। लोगों को ऐसा लगता है कि भोले-भाले व्यक्ति के लिए इस जीवन-संग्राम में कोई स्थान ही नहीं है। और जब ऐसा भाव बन जाता है तो

फिर प्रत्यक्ष अनुभव भी वैसा ही होने लगता है। रेल में बहुत भीड़ होने के डर से हर एक मुसाफिर २-३ घण्टे पहिले जाकर व सबसे पहिले डब्बे में सबसे ज्यादा जगह पर कब्जा कर लेने के लिए दौड़-धूप करता है। यह ठीक है कि इससे कितनों के ही लिए खड़े रहने भर की भी जगह नहीं बचती तथापि यदि सबको ऐसा विश्वास हो कि रेलवे अधिकारी गाड़ी में और डब्बे जोड़ देंगे या उसका सफल उपाय कर सकेंगे तो किसी को भी दौड़-धूप करने की जरूरत न रहेगी और प्रत्येक को आवश्यक जगह मिल सकेगी तथा किसी को नींद का बहाना करके पैर फैलाकर सोने और किसी को खड़ा होने की जरूरत न रहेगी।

इस संसार में स्पर्धा, कलह, दौड़-धूप विषमता, अजीर्ण, भुखमरी सब कुछ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यह सब अनावश्यक हैं। हम अपनी अधीरता से, भीरुता-वश, व्यर्थ लोभ से, अनुशासन-हीनता से व संयम के अभाव से अपने को परेशान कर लेते हैं। यह वसुन्धरा अपने सारे पुत्रों का पालन-पोषण करने में समर्थ है। ईश्वर की सृष्टि में पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े कोई भी भूखे पेट नहीं रहते ; एक मनुष्य को ही इतनी भूख से पीड़ित रहने का कारण है, उसका अनियंत्रित लोभ, लापरवाही, विघ्न-सन्तोषीपन, तोड़-फोड़। इसके अलावा दूसरा कुछ सम्भव ही नहीं है। इसी कारण जो वास्तव में हमारे लिए स्नेह-सम्मेलन होना चाहिए उसी को हम रणाङ्गण बना लेते हैं।

स्पर्द्धा दुनिया का नियम अवश्य है परन्तु सहयोग का नियम उससे भी अधिक स्थिर, व्यापक, प्रभावशाली व श्रेष्ठ है। जहाँ भेद हैं वहाँ उसके साथ ही स्पर्द्धा भी आ ही जाती है। एक ही वृक्ष की भिन्न-भिन्न टहनियों में भी परस्पर स्पर्द्धा रहती है। क्योंकि दूसरी सब टहनियाँ तोड़कर यदि एक ही शेष रक्खी जाय तो वह बड़े ज़ोरों से बढ़ती है। फल-फूल तोड़ने पर कोपलें ज़ोर से फूटती हैं; परन्तु फिर भी यह उससे

भी अधिक सत्य है कि टहनियाँ परस्पर सहयोग करती हैं, कापलों के बल पर ही फल-फूलों की उत्पत्ति व बढ़ती होती है, तथा फूलों के पकने से ही बीज तैयार होकर वृक्षों का वंश चलाते हैं। मनुष्य के दोनों हाथों व दोनों आँखों में नित्य हार्दिक सहयोग होता है, तब भी हाथ व आँख में परस्पर स्पर्द्धा होती है यह भी मानना पड़ेगा, क्योंकि जब एक हाथ टूट जाता है, या एक आँख फूट जाती है, तो दूसरी आँख या हाथ की शक्ति कुछ बढ़ जाती है। स्पर्द्धा रही भी तो वह गौण होगी। सहयोग का सिद्धान्त श्रेष्ठ है, स्पर्द्धा सहयोग के पेट में रहती है।

अमरत्व—वृक्ष की पत्तियाँ अल्पायु होती हैं। वे बसन्त ऋतु में निकलती हैं और पतझड़ में झड़ जाती हैं परन्तु वृक्ष कायम रहता है। और उस वृक्ष के आश्रय से पत्ते-फूल फिर निकलते हैं, टिकते हैं, बढ़ते हैं और झड़ जाते हैं। उलटे हरेक पत्ता भी वृक्ष के आकार में थोड़ी-सी वृद्धि कर देता है। और इसके अतिरिक्त झड़ जाने के पूर्व अपने डंठल की जड़ से शाखा पर एक आँख रख देता है। यह आँख मानो एक भावी शाखा ही है। आगामी बसन्त में उस आँख में से अंकुर फूट कर क्रम-क्रम से उसकी डाली व टहनी बनती है। कलम करके उस डाली को अलग लगा देने से उसका वृक्ष भी हो जाता है, पत्ते यद्यपि कुछ महीने जीवित रह कर झड़ जाते हैं तथापि उनका जीवन-कार्य समाप्त नहीं होता, वह अबाध गति से चलता रहता है।

हम लोग भी ऐसे पत्ते ही हैं। पत्तों की पिछली पीढ़ियों के कर्तृत्व के बल पर हम अधिकाधिक ऊँचा जीवन प्राप्त कर लेते हैं, मानव-वंश-वृक्ष के द्वारा हमको पोषण और शिक्षण मिलता है। हमारा जीवन समृद्ध बनता है। इस संसार-चक्र के अनुसार हमारे भी 'पीले पत्ते' झड़ जाते हैं, परन्तु हमारा जीवन-कार्य नष्ट नहीं होता। कोई भी उसका नाश नहीं कर सकता। मृत्यु में से ही पुनर्जन्म होता रहता है। भावी पीढ़ियों के रूप में हम अमर ही रहते हैं। यह नहीं कि इसके लिए औरस संतति की आवश्यकता है। परन्तु ऐसा विश्वास होने पर

कि हमारा कार्य, हमारी आकांक्षा, हमारे विचार व हमारी संस्था अखंड प्रगति करती ही रहेगी वस्तुतः हम अमर ही हैं। पुत्र पिता का और शिष्य गुरु का पुर्नजन्म ही है।

हम सब लोग एक ही वंश-वृक्ष के पत्ते हैं। हमको इस वंश-वृक्ष से व एक दूसरे से पोषण मिलता है, और हम अपने कर्तृत्व के द्वारा, फिर वह कितना ही थोड़ा क्यों न हो, उसे समृद्ध करते जाते हैं। सब लोग एक दूसरे के भाई हैं, एक ही दल के सैनिक हैं। ईश्वर हम सब का पालन-हार व रखवाला है। ऐसे विचारों से मनुष्यों में एक प्रकार की निश्चिन्तता, विनम्रता, आत्म-विश्वास, निर्भयता, प्रयत्नवाद, सहनशीलता, समाधान व आत्मा की अमरता के प्रति विश्वास भी उत्पन्न होता है।

दिक्काल:—उसी तरह मनुष्य दिशा व काल की मंजिलों को लाँघ जाता है, सत्कर्म का फल यथा समय मिलेगा ही, यथा समय बीज का वृक्ष होगा ही, इसका उसे विश्वास रहता है। उसे यह नहीं मालूम होता कि जादूगर द्वारा पाँच मिनट में ही बीज से झाड़ बना कर दिखा देने में कुछ विशेष आश्चर्य है और उसी क्रिया में १०० वर्ष लग जाने से ईश्वर में कुछ कमी है। हमारी जाग्रत अवस्था के मिनिट स्वप्न में महीनों जैसे लगते हैं। भूखे बालक को मिनिट पहरों जैसे हैं, व धैर्यवान माँ को कष्टों के पहर भी मिनट जैसे लगते हैं। पचास-वर्षों के उत्थान-पतन नाटक के केवल तीन घंटों में ही समा जाते हैं, और नाटककारों के दिमाग में सारा कथानक एक आधे ही क्षण में चमक उठता है। काल स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। वह एक क्रम है, ताल है; यदि गीत तेजी से गाया जायगा, तो कड़ियाँ जल्दी-जल्दी आयेंगी और यदि धीरे-धीरे गाया गया तो धीरे-धीरे आयेंगी। परन्तु गाने में लय, ताल व द्रुतताल दोनों ही अपनी-अपनी जगह आनन्द-दायी ही होते हैं। इसीलिए सुजान लोग समय की अवधि की जरा भी चिन्ता नहीं करते।

काल की तरह दिक्—अन्तर, लम्बी, चौड़ी, ऊँची, गहरी—का भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। काल का अर्थ जिस प्रकार क्रम होता है, उसी प्रकार अन्तर का अर्थ रचना या स्थिति है। सारा संसार—हमारे शरीर, कपड़े, आँखें, नाप का गज सब चीजें—स्केल में एकाएक आकार में आधी हो गईं, तो उनका फर्क हमें मालूम तक नहीं होता। पारमार्थिक दृष्टि से 'पास और दूर', 'जल्दी और देर से' का विशेष महत्व नहीं है।

४

सेवा के क्षेत्र व प्रकार

संसार की सेवा—'मैं' का अर्थ केवल मेरा साढ़े तीन हाथ का ही शरीर नहीं है। देह मेरा सर्वस्व नहीं है। मेरा स्वत्व मेरे शरीर के परे फैला हुआ है। मेरे माँ-बाप, भाई-बहिन, लड़के-लड़की, सगे-सम्बन्धी, मित्र, जाति-भाई, देश-बन्धु, मनुष्य-मात्र बल्कि भूतमात्र, सारा संसार मेरा। मैं सारा विश्व हूँ। मैं छोटा होते हुए बड़ा भी हूँ। जैसे मर्यादित हूँ वैसे ही व्यापक भी हूँ। बल्कि मेरा मूलरूप तो विशाल है। किन्तु यह लघु-रूप काम चलाने के लिए मुझे मिला है—या यों कहें कि मुझ पर लाद दिया गया है। मैं मूलतः तो गगन-विहारी पक्षी था, किन्तु पिंजरे में बन्द कर दिया गया हूँ। सेवा का अर्थ है—छोटे को बड़ा, अल्प को विशाल, ससीम को निस्सीम, बिन्दु को सिन्धु, पिण्ड को ब्रह्माण्ड बनाने का प्रयत्न। सेवा का अर्थ है आत्म-विस्तार और इस आत्म-विस्तार की अन्तिम मर्यादा परमेश्वर है। इच्छा से या अनिच्छा से, जान से या अनजान से, मनुष्य के सारे कार्यक्रम, सारे उद्योग, विद्या, कला, दौड़-धूप, सुधार, संशोधन, युद्ध इस मूल स्वरूप को प्राप्त करने के विविध प्रयत्न ही हैं। उन्हीं को स्वेच्छापूर्वक करने का अर्थ है सेवा।

सेवक के आत्म-विस्तार का प्रयत्न ऐच्छिक होने पर भी यह नहीं कि वह सदा ज्ञानपूर्ण अर्थात् ज्ञान से प्रकाशित होता ही है। सेवक की भावना, कुटुम्ब, गाँव, जाति, देश जैसी किसी मंजिल पर अटक कर रह गई होती है। सेवा का अन्तिम निधान जग अथवा परमेश्वर ही है, यह बात प्रत्येक सेवक जानता हो सो बात नहीं है। परन्तु आदर्श सेवा

तो वह है जो स्वेच्छा से, ज्ञानपूर्वक, आत्मभाव से संसार अथवा भूत-मात्र की की जाती हो।

मुझ पर संसार का बड़ा उपकार है, मैं सारे संसार का ऋणी हूँ। मेरा आज का जीवन मुझे प्राप्त शिक्षण और ज्ञान तथा सुख-भोग के सब साधनों, पृथ्वीतल पर मनुष्य के जन्म होने के बाद से विगत हज़ारों पीढ़ियों के मनुष्यों और जानवरों के, वनस्पति और मिट्टी-पत्थरों के संचित कर्मों का फल है। पूर्वजों-द्वारा कष्ट-पूर्वक संपादित सम्पत्ति की विरासत मुझे अनायास मिली है। पूर्वजों और समकालीन लोगों के श्रम के मधुर फल मैं चख रहा हूँ। यह ऋण चुकाने का प्रयत्न करना, इस विरासत में थोड़ा-बहुत और जोड़कर अपनी अगली पीढ़ियों के लिए अधिक अच्छा संसार छोड़ जाने का बस भर प्रयत्न करना हमारा परम कर्त्तव्य है। इस संसार में तो आज भी दैन्य, दुःख, दारिद्र, अज्ञान, रोग, वैर, कलह, मत्सर, व्यसन, दुर्गुण, अन्याय, खूब भरे हुए हैं। इन सब को दूर करके अधिक सुखी, सन्तुष्ट, समृद्ध, समर्थ, नीरोगी, निर्व्यसन, सुशील, सुजान, न्यायी, प्रेममय मनुष्य-समाज निर्माण करना-अर्थात् पृथ्वी पर स्वर्ग बनाना ही मेरे जीवन का कर्त्तव्य है। यही है मेरे जीवन की सार्थकता और मेरे कल्याण का साधन।

लेकिन मैं सारे संसार का सुधार कैसे कर सकूँगा? संसार कितना विशाल है और मेरी शक्ति कितनी अल्प है।

सद्व्यवहार-जीवमात्र की सेवा:—परन्तु संसार भर की अचूक सेवा करने का एक रास्ता मेरे लिए खुला हुआ है। सत् शील और सद्व्यवहार ही सारे संसार में (वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए) पहुँचने वाली सेवा है। यह बात नहीं है कि संसार की सेवा करने के लिए लोकोत्तर बुद्धिमत्ता और असामान्य कर्तृत्व की ही आवश्यकता है। संसार के एक नागरिक के नाते यदि मैंने अपना अल्प वैयक्तिक जीवन भी निर्दोष रीति से, किसी को भी कष्ट न पहुँचाकर, चोरी, चुगली, मत्सर, दगाबाजी न करके, भूभार न बनकर बिताया, निर्दोष

साधनों के द्वारा और दूसरों का शोषण न करते हुए अपना ही उदर-निर्वाह किया तो भी बहुत है। नीति-नियमों का पालन सेवा की अनिवार्य शर्त है। अथवा नीति-विहित वैयक्तिक जीवन भी मूक किन्तु अत्यन्त महत्व की, ठोस व मूलभूत समाज-सेवा ही है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, संयम इत्यादि मनुष्य के सामाजिक जीवन के आधारभूत नियम हैं। इनको भंग करना मानों समाज की जड़ पर कुल्हाड़ा मारना ही है। यदि मैंने अपने पड़ोसी की कोई वस्तु चुराई है तो मैंने केवल पड़ोसी का ही अपराध नहीं किया बल्कि वह कानून के अनुसार सरकार का अर्थात् सारे राष्ट्र का अपराध होता है। वास्तव में तो वह सारी मनुष्य-जाति का अपराध है। व्यभिचार भी सारे समाज का द्रोह है। असत्य भाषण तो मनुष्यों के आपसी व्यवहार को ही नष्ट कर देने वाला है।

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तांहि यः स्तेनयेद वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥

मनुष्य की वाणी में अनेक तरह के अर्थ (शब्दार्थ या संपत्ति) समाये हुए हैं। वाणी से ही वे जन्म लेते और प्रकट होते हैं। उस वाणी को जो चुराता है उसने चुराने में क्या छोड़ा है?

अतः सत्य-अहिंसादि सनातन नीति-तत्वों का उल्लंघन करके जो मनुष्य दान-धर्म करने, ट्रस्ट बनाने, मंदिर या हाल बनवाने इत्यादि मार्गों से समाज-सेवा करने के लिए दौड़ता है वह मानो वृक्ष की जड़ काटकर पत्तों पर पानी छिड़क कर उसे लहलहाने का प्रयत्न करता है। नीति-शुद्ध, निष्पाप आचरण अल्पबल मनुष्य के भी बस की परन्तु एक आवश्यक, निश्चित, महत्वपूर्ण और विश्वव्यापी सेवा ही है। डूबते हुए आदमी को बचाने के लिए शक्ति, साहस व तैरने की कला में निपुणता चाहिए; परन्तु कुएँ के किनारे खड़े मनुष्य को उसमें न गिरने देना एक निर्बल आदमी के भी बस की बात है। बल्कि भीरु व निर्बल मनुष्य के लिए ही वह अधिक सुलभ है।

भगवन् मुझे दुराचरण में दुर्बल ही रहने दे, पापभीरु ही रहने दे।

निजी कर्त्तव्य—यद्यपि सदाचार अमूर्त, गूढ़ व अप्रत्यक्ष सेवा है, तो भी उसका क्षेत्र असीम है। इसके प्रतिकूल प्रत्यक्ष या मूर्त सेवा के भी निजी और सार्वजनिक दो भेद कल्पित किये जा सकते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि मैं सारे संसार का ऋणी हूँ तो भी प्रत्यक्ष रूप में किसी विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तिसमुदाय का मुझ पर विशेष ऋण रहता है और उसे चुकाना मेरा विशेष कर्त्तव्य होता है। यद्यपि यह ग़लत नहीं है कि मैं धरती-माता का पुत्र हूँ तो भी जिस ख़ास माँ ने मुझे जन्म दिया और छोटे से बड़ा किया है उसका उपकार मुझ पर कितने गुना अधिक है! माँ की तरह पिता, पितामह, पितामही, काका, मामा, भाई, बहिन, इष्ट मित्र, शिक्षक इत्यादि अनेक व्यक्तियों के अनेक प्रकार के उपकारों के बल पर ही मेरी जीवन-यात्रा सुख से चलती रहती है। तो ईश्वर ही माता-पिता, इष्ट-मित्र, अड़ोसी-पड़ोसी व कभी-कभी अपरिचित लोगों के रूप में मेरा लालन-पालन कर रहा है। अतः ईश्वर का ऋण चुकाने के लिए मैं जो भी प्रयत्न करूँ वे सब ईश्वर के प्रतिनिधियों के ही मार्फ़त होने चाहिएँ। "सब जगह ईश्वर ही है" इसे तत्त्वतः सत्य मानकर भी व्यवहार में तारतम्य रखना पड़ता है। इसीलिए उपनिषद् का यह गुरु-द्वारा शिष्य को दिया हुआ उपदेश बिलकुल ठीक है:—मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। माता, पिता, गुरु, अतिथि को ईश्वर के समान मानो।

यद्यपि मैं समाज-सेवक, देश-सेवक, आदि सब-कुछ बन गया तथापि अपने माता-पिता, भाई-बहिन, पत्नी व लड़के-बच्चों, अड़ोसी-पड़ोसी व मित्रों के प्रति अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना कभी न करनी चाहिए। देश-भक्ति के नशे में पास के व्यक्ति की उपेक्षा करना कोई प्रशंसा या बड़प्पन की बात नहीं है। माता यदि अपने नवजात बालक को दाई या नौकरानी के सुपुर्द करके 'क्लब' या 'भगिनी-मण्डल' या दूसरे किसी सार्वजनिक कार्य-क्रम में मग्न हो जाय तो इसमें सेवा-

भाव की अपेक्षा उसके दिखावे की भावना ही अधिक झलकने की संभावना है।

इतना तो ठीक है कि कुटुम्बियों की सेवा मोह-ममता-मूलक न होनी चाहिए बल्कि कर्त्तव्य-दृष्टि से ही करनी चाहिए। माँ के पास रहना मुझे अच्छा लगता है अतः उसकी सेवा करें, यह नहीं किन्तु सुश्रूषा करना मेरा परम कर्त्तव्य है, वह मेरा स्वधर्म है इसीलिए उसे करना चाहिए। कुटुम्ब की सेवा करना हो तो वह इस तरह हो कि दूसरे कुटुम्बों के लिए बाधक न होने पावे। क्योंकि माता ने जो मेरा लालन-पालन किया या मेरे इष्ट-मित्र जो सब तरह से मेरे लिए उपयोगी सिद्ध हुए, वे भी तो बड़े समाज की, मातृ-भूमि की अथवा संसार की मदद या अनुकूलता से ही वैसा कर सके। यदि ग्वाला शुद्ध दूध नहीं देता, वैद्य अच्छी दवा नहीं देता, गाँव में महामारी या कुकुरखाँसी का प्रकोप हुआ होता अथवा पड़ोसिन ने नज़र* लगा दी होती, तो माता को बालक का लालन-पालन करना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता। इसी तरह यदि देश पर विदेशियों का आक्रमण हुआ और उसका निवारण न किया जा सका तो मैं भी अपनी वृद्ध माता की सेवा कैसे कर सकूँगा? अकाश से गिरने वाले बम की रुकावट न हुई तो खटिया के नीचे का कूड़ा-करकट साफ़ कर लेने से क्या काम बनेगा? अतः देश-रक्षा में लापरवाही करके मैं कुटुम्ब-रक्षा नहीं कर सकता, वैसी इच्छा करना मेरे लिए उचित भी नहीं। उलटे कुटुम्ब-द्रोह करके देश-सेवा करने में भी कोई लुत्फ़ नहीं। जिस तरह ये 'व्यक्तिगत' कर्त्तव्य कौटुम्बिक, घरेलू ढंग के होते हैं उसी तरह वे बिल्कुल अपरिचित व्यक्ति के सम्बन्ध में भी खड़े हो सकते हैं। यदि प्रवास में मेरे अपरिचित सहयात्री को कोई हानि हुई या कोई आकस्मिक दुर्घटना हुई तो उसकी

---

* पाठक कृपाकर अपना यह ख्याल न बना लें कि लेखक 'नजर लगने पर' विश्वास करता है।

सहायता करना मेरा परम कर्त्तव्य होता है। उसके लिए यदि सार्वजनिक अथवा कोई ऐसा काम जो मेरे अभाव में दूसरा भी कर सकता है, छोड़ देना पड़े तो कोई चिन्ता नहीं। प्रासंगिक कर्त्तव्य मानों ईश्वर-द्वारा खासतौर से मुझे ही सौंपा गया कार्य समझना चाहिए। ऐसे नियत काम को छोड़कर न सौंपे हुए या न बताये हुए कामों को अपने ऊपर लेने की झंझट और दौड़-धूप में पड़ना फ़िजूल है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

'अपना कर्त्तव्य यदि न-कुछ भी हो तो उसी को करना उचित है। दूसरे का काम यदि अच्छी तरह कर सके तो भी उसके लिए लालायित होना अच्छा नहीं।" (भगवद्गीता)

अतः सेवक के लिए यह उचित है कि वह निकट के व्यक्तिगत कर्त्तव्य व व्यापक सार्वजनिक कर्त्तव्य एवं फुटकर किन्तु ज़रूरी और महत्वपूर्ण किन्तु फुरसत के कर्त्तव्यों में प्रसंग और परिस्थिति के अनुसार तारतम्यपूर्वक समन्वय साध ले।

सार्वजनिक सेवा—यहाँ तक सेवक के व्यक्तिगत ऋण-सम्बन्धी और उनसे उत्पन्न कर्त्तव्यों पर विचार हुआ। सर्वसाधारण की सेवा सार्वजनिक कार्य या सेवा कही जा सकती है। अब हमें सार्वजनिक सेवा सेवा के क्षेत्र का विचार करना है।

सार्वजनिक सेवा का अर्थ है संसार की ही सेवा। परन्तु यहाँ भी सेवा के क्षेत्र को व्यावहारिक रूप से मर्यादित करना सुविधाजनक तथा आवश्यक है। सेवक को अपनी शक्ति और कार्य के स्वरूप के अनुरूप ही, गाँव, पञ्चकोशी (सरकल), ताल्लुका, ज़िला, प्रान्त या देश जैसा कोई छोटा या बड़ा क्षेत्र चुन लेना पड़ता है। राज्य-शासन में जिस प्रकार पटवारी, तहसीलदार, कलेक्टर, गवर्नर, वाइसराय जैसे छोटे-बड़े क्षेत्र के अधिकारी होते हैं उसी तरह सेवक भी अपने लिए एक क्षेत्र निश्चित कर लेता है। जिस तरह तहसीलदार एक ताल्लुके या परगने

का ही काम देखता है और कलेक्टर या उसके अन्य बड़े अधिकारियों की आज्ञा में रहकर ही काम करता है, उसी प्रकार यदि सेवक को कोई बड़ा साहब या आज्ञा देने वाला न हो तो भी सेवक की उस क्षेत्र-सम्बन्धी निष्ठा व्यापक निष्ठा के अधीन रहनी चाहिए। उसकी ग्राम-सेवा देश-सेवा की पोषक होनी चाहिए, वह देशहित से विसंगत न होनी चाहिए।

स्वदेशी-धर्म—यह स्वदेशी धर्म ही है। सारा संसार मेरा है यह ठीक है। जो मेरे पास के लोग हैं उनकी सेवा पहिले या विशेष रूप से करनी चाहिये और दूर वालों की बाद में। "Charity begins at home।" 'सद्‌गुणों का आरम्भ खुद हमारे घर से ही होता है' इस वाक्य का यही अर्थ है। 'आरम्भ घर से होता है' यह कहा गया है, किन्तु बहुत से लोग यह भूल जाते हैं कि 'उसका अन्त भी घर पर ही नहीं होना चाहिए।' दीपक अपनी प्रकाश-किरण चारों दिशाओं में जहाँ तक पहुँचाया जा सकता है पहुँचाता है। पास के भाग पर खूब प्रकाश पड़ता रहे इसलिए वह ऐसा नहीं कहता कि 'एक खास सीमा के बाहर मैं अपनी किरणें नहीं जाने दूँगा।' उसी प्रकार दूर तक अपना प्रभाव पहुँचाने के लिए वह पास के प्रदेश की उपेक्षा भी नहीं करता। उसका प्रकाश पास के भाग पर अधिक प्रखर पड़ेगा और जैसे-जैसे दूर जाता जायगा वैसे-वैसे फीका पड़ता जायगा।

बड़े दीपक की किरणें जहाँ दूर तक जाती हैं तहाँ मिट्टी के दिये की चार कदम से आगे नहीं जातीं, परन्तु मिट्टी का दिया पास की चीज़ों को प्रकाश देने के लिए दूर की चीज़ों को ज़्यादा धुँधला नहीं बनाता। दीपकराज सूर्य की किरणें बहुत दूर तक प्रकाश और गर्मी पहुँचाती हैं। लेकिन उसकी शक्ति की भी एक मर्यादा है। सूर्य के प्रकाश की पहुँच भी सूर्यमाला तक ही है। सूर्यमाला के बाहर का अनन्त दिग्-विस्तार उसके अधिकार-क्षेत्र के बाहर रहता है तथापि वहाँ भी वह बहुत थोड़ा काम कर सकता है। उदाहरणार्थ ध्रुवतारा भी सूर्य-जैसा

हो एक सूर्य है। बहुत दूर होने से वह हम तक प्रकाश या गर्मी नहीं पहुँचा सकता फिर भी वह हमको दिशा और मार्ग दिखाता रहता है। उसकी यह सेवा भी कम महत्व की नहीं है।

दीपक* का दृष्टान्त एक और दृष्टि से भी उचित है। दीपक सारे घर को प्रकाश देता है। उसकी तैयारी तो सारे घर भर के लोगों की सेवा करने की है। परन्तु वह अपनी सेवा किसी भी एक व्यक्ति पर लादना नहीं चाहता। सोने वालों को वह बलपूर्वक नहीं उठाता। जिनकी आँखें खुल जाती हैं उन्हीं को वह प्रकाश देता है। सूर्य तो सारे संसार के लिए प्रकाशित होता है, किन्तु वह किसी के घर में जबरदस्ती नहीं घुसता। जिसने अपने घर के दरवाज़े बन्द कर रक्खे हैं, उसके घर के बाहर वह चुपचाप खड़ा रहता है। खिड़की खुलते ही वह अन्दर प्रवेश करता है। उसी तरह सेवक अपनी शक्ति-अनुसार स्वीकृत क्षेत्र में से उतने ही लोगों की सेवा करे जितने लोग उससे सेवा लेना चाहें। यह सेवा वह समबुद्धि से करे। यद्यपि मुझे भाषण सारे गाँव के लोगों के लिए देना है तो भी मुझे वह उन्हीं लोगों के कानों में पहुँचाना पड़ता है जितने मन्दिर में आये हुए हैं।

मेरी बाल बनाने की दूकान (सेलून) पर लगाई हुई 'सुस्वागतम्' की तख़्ती यद्यपि उस रास्ते जाने वाले सभी लोगों को आने का निमंत्रण देती रहती है फिर भी कहना नहीं होगा कि मैं उसे अपने ख़ास ग्राहकों के ही लिए चला रहा हूँ। प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्ट ने सारे संसार के लिए यद्यपि आकाशवाणी की तथापि उनके शब्द उन्हीं लोगों तक पहुँचे जो अपना रेडियो ठीक करके कान लगा कर सुनने बैठे हों।

प्रादेशिक क्षेत्र—सेवा अन्त में अथवा प्रत्यक्षतः इस या उस व्यक्ति के ही पास पहुँचती है, हालांकि उसकी योजना की जाती है एक विशेष

* दीपक का उदाहरण श्री विनोबा भावे के एक प्रवचन से लिया गया है।

भू-भाग के लिए। उदाहरणार्थ—किसी ज़िले के लिए एक अख़बार निकलता है; किन्तु ज़िले के हज़ारों में कोई एकाध उसे पढ़ता है और ज़िले के बाहर भी उसके कुछ पाठक होते हैं; परन्तु कहलाता वह 'ज़िला अख़बार' ही है। पूने का 'केसरी' बृहत् महाराष्ट्र का, बम्बई 'टाइम्स' सारे हिन्दुस्तान का तथा गाँधी जी का 'यंग इण्डिया' या 'हरिजन' अथवा लंदन का 'टाइम्स' जैसे पत्र सारे संसार के कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार किसी सेवक का कार्यक्षेत्र केवल उसका गाँव या गाँव का भाग हो सकता है अथवा ज़िला, प्रान्त इत्यादि हो सकता है और किसी एकाध लोकोत्तर महापुरुष का कार्यक्षेत्र सारा संसार हो सकता है।

देश-सेवा—इस सारे क्षेत्र को 'देश' और सारी सेवा को 'देश-सेवा' कह देने में कोई हर्ज नहीं है। क्योंकि 'देश' देशसेवक के बूते के माफ़िक छोटे से छोटा व बड़े से बड़ा, सारी पृथ्वी के बराबर भी, हो सकता है। महत्व का मुद्दा तो यह है कि वह एक भौगोलिक या प्रादेशिक विभाग होना चाहिए। देश नैसर्गिक या ईश्वर-नियुक्त कार्य-क्षेत्र है। अतः स्वदेशी या देश-सेवा धर्म है। जिस प्रकार ईश्वर ने मुझे माता, पिता, भाई, बहिन या लड़के-बच्चे दिये हैं उसी प्रकार देश भी मेरे लिए निश्चित कर दिया है: अतः कुटुम्ब के प्रति जिस प्रकार मेरे व्यक्तिगत कर्त्तव्य हैं उसी प्रकार मेरे सार्वजनिक कर्त्तव्य भी देश के प्रति हैं।

'देश' का अर्थ है देश का समाज। अतः यह स्पष्ट है कि देश-सेवा का अर्थ देश की मिट्टी, पत्थर, हवा, पानी की सेवा नहीं है। जिस समाज की सेवा करना है वह समाज या संघ देश-विशिष्ट, एवं निसर्ग-निर्मित होना चाहिए, कृत्रिम नहीं। सहयोग-समिति, ज़मींदार-सभा, ट्रेड-यूनियन ये सब कृत्रिम संघ हैं। ऐसे संघ बनाने की स्वतंत्रता सब को होनी चाहिए और ऐसे संघों की आवश्यकता भी रहती है; परन्तु

ऐसे संघों का कार्य सामुदायिक स्वार्थों को साधने वाला होता है। वह स्वार्थ न्यायोचित भी हो सकता है और अन्याययुक्त भी। स्वार्थ यदि न्यायोचित है तो इतना हीं कि वह संगठन आक्षेपयोग्य नहीं कहा जायगा। किन्तु वह निरपेक्ष समाज-सेवा नहीं है।

राजकीय देश—मैंने कहा है कि 'देश' की मर्यादा लचकदार है और वह सुविधानुसार बड़ी छोटी हो सकती है। लेकिन फिर भी पृथ्वी के बड़े-बड़े स्थूल भौगोलिक विभाग हो जाते हैं। नदी, पर्वत, समुद्र-जैसी नैसर्गिक बाधाओं के कारण एक प्रदेश दूसरे से अलग हो जाता है। ऐसे विभागस्थ समाज के अन्तर्गत व्यवहार विशेष प्रगाढ़ और परस्परावलम्बी होते हैं। और दूसरे प्रदेश की प्रजा से यह समाज भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज इत्यादि की भिन्नता तथा आवागमन या मेल-जोल की कठिनाई के कारण, अलग हो जाता है। चीन, हिन्दुस्तान, ब्रह्मदेश, अरबस्तान, इसी तरह के नैसर्गिक भू-भाग या देश हैं।

मनुष्य के सामाजिक जीवन में राजसंस्था या राजनीति का सर्वोच्च महत्व होता है। अरिस्टाटिल ने तो मनुष्य की व्याख्या ही 'राजनैतिक प्राणी' के रूप में की है। मनुष्य-निर्मित सार्वजनिक-संस्थाओं में एक राजसंस्था ही ऐसी है जो सबसे अधिक महत्व रखती है, जीवन के अधिक से अधिक भाग में व्यापक है और जीवन का अधिक से अधिक नियन्त्रण करती है। राज्याधीन देशों की मर्यादा भी बहुधा भौगोलिक विभागों के अनुसार ही होती है। देश ही बहुधा राज्य भी होता है. इस प्रकार से एक देश व एक राज्य की प्रजा का सामाजिक जीवन विशेष घनिष्ठ और दूसरों से भिन्न बन जाता है। एक राज्य की प्रजा के स्वार्थ या हित-सम्बन्ध एक-साथ गुँथे हुए होते हैं और दूसरों से भिन्न तथा कभी कुछ विरोधी भी होते हैं। राजकीय—भौगोलिक देश ही मनुष्य-जाति का स्वाभाविक व परस्पर-विभक्त विभाग होने के कारण समाज-सेवा मुख्यतः देश-सेवा का रूप ग्रहण कर लेती है। देश में गाँव तथा कुछ अंशों में प्रान्त नैसर्गिक समुदाय है किन्तु ताल्लुका, ज़िला व

के शिखर पर चढ़ाना है, उसकी उन्नति करना है, फिर भले ही दूसरे देशों का कुछ भी होता रहे। अधिक क्या, दूसरे राष्ट्र मेरे राष्ट्र की परिचर्या के लिए ही हैं, अतः उन्हें जीते बिना, या यदि वे मेरे राष्ट्र के दुश्मन हैं तो उन्हें कुचले बिना मेरे देश की उन्नति सम्भव ही नहीं है। मानो एक ही मेरा देश भगवान का बनाया है और दूसरे देश शैतान के बनाये, इसी भावना से प्रेरित होकर लाखों शूरवीर योद्धा—प्रत्येक देश के मनुष्य-बल रूपी दूध की मलाई—निस्सीम त्याग के लिए किन्तु साथ ही नितान्त घोर कृत्यों के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। हिटलर हम अजर्मनों को राक्षस-सा लगता है, किन्तु यह स्पष्ट है कि वह असीम देशाभिमान से प्रेरित था। हमारा जर्मन राष्ट्र सारी मनुष्य जाति में श्रेष्ठ है, उसे भगवान ने संसार पर शासन करने के लिए बनाया है और उसकी सेवा करने के लिए दूसरे राष्ट्र बनाये गये हैं। किन्तु वे उलटा सृष्टि-कर्त्ता के उद्देश्य के विरुद्ध जर्मनों को मिट्टी में मिलाने के स्वप्न देखने लगे अतः जर्मनी की तात्कालिक पराजय का बदला उनसे लेने के लिए और जर्मन-राष्ट्र को मूल ईश्वरी योजना के अनुसार श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करा देने के लिए ईश्वर ने मुझे भेजा है, ऐसी उदात्त व निःस्वार्थ भावना से ही हिटलर सुख और शरीर की चिन्ता न करके भी अपनी ईश्वरदत्त असामान्य शक्ति के द्वारा अनवरत व अविराम भगीरथ प्रयत्न करते हुए जर्मन-राष्ट्र का नेतृत्व करता रहा। (मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे हिटलर की प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है। अखबारों, समाचारों से तथा प्रस्तुत विवेचन की सुविधा के लिए ही मैंने उपर्युक्त चित्र खींचा है।) जो स्थिति हिटलर की है वही प्राचीन काल से सारे आक्रमणकारी राष्ट्रों के नेताओं की रही है व आज भी है। संसार के बहुत से अनर्थ, लड़ाई-झगड़े, ख़ून-ख़राबी, ज़ोरो ज़ुल्म, पीड़न-शोक व दुःख इस राष्ट्राभिमान के ही आभारी हैं।

संकुचित राष्ट्रवाद अथवा ऐसा कहने वाला राष्ट्र-पूजावाद कि—"मैं अपने राष्ट्र की उन्नति चाहता हूँ, और उसके लिए प्रयत्न करूँगा.

तथा इसके लिए दूसरे राष्ट्रों को कुचल डालूँगा" आज कल पश्चात्य देशों में एक बड़ा अभिशाप ही हो गया है, और उसके दूषित प्रभाव से हम पूर्व के लोग भी अछूते नहीं बच पाये हैं। मेरा यह कहना नहीं है कि हम पूर्व के लोग तो सब सज्जन, और पाश्चात्य सारे दुर्जन हैं। इधर युरोप व अमेरिका ही संसार की राजनीति का केन्द्र बन गये थे। पूर्वी लोगों की जैसे कोई स्वतंत्र राजनीति ही नहीं है, इसी अर्थ में यह बात कही गई है। चंद साल पहले जापान इस राष्ट्रवाद के मामले में किसी भी पाश्चात्य राष्ट्र से हार मानने वाला नहीं था। जब हम मराठों का बोल-बाला था तब हमने भी चारों दिशाओं में अपना राज्य फैलाने में कोई कसर नहीं रक्खी थी। यदि पश्चिमी और पूर्वी लोगों में कुछ अन्तर हो तो वह वैसा ही है जैसा कि विजेता और विजित, सफल और असफल, प्रभावशाली और निष्प्रभ, प्रबल और निर्बल—इनमें सहज रूप से दिखाई देता है।

जातिवाद—हिन्दुस्तान की कुंडली में एक और दुष्ट ग्रह—जातिवाद आ पड़ा है। हम सारे गाँव अथवा प्रदेश को भी अपना कहने के लिए तैयार नहीं हैं। एक कहता है—"मैं हिन्दू हूँ, हिन्दू-हिन्दू में किसी भी प्रकार का भेद मानने के लिए तैयार नहीं। परन्तु 'हिन्दी' या हिन्दुस्तानी जैसा कोई एक वर्ग है, यह स्वीकार करने लिए तैयार नहीं।" तब उसी का दूसरा भाई कहता है—"मैं ब्राह्मण हूँ। आज सारा संसार ब्राह्मणों पर उलट पड़ा है। ऐसी स्थिति में उनका मजबूत संगठन बनाये बिना उनके जीवित रहने की आशा नहीं। मैं अपना सर्वस्व खर्च कर के भी उन अब्राह्मणों के आक्रमण का मुकाबला करूँगा।" तीसरा कहता है—"मैं चित्पावन (ब्राह्मणों की एक उपजाति) हूँ। पेशवाई डूबने के बाद हमारा जो पतन होना शुरू हुआ, सो कितना गहरा जाकर रुकेगा यह नहीं कह सकते। दूसरी सब जातियाँ अपना-अपना संगठन करके अपनी उन्नति में लग रही हैं, तो फिर हम ही अकेले अपनी ढिलाई में चुपचाप बैठे रहेंगे तो कैसे काम चलेगा?"

संकुचित राष्ट्रवाद जहाँ कहता है कि आस-पास के प्रदेशों में जितने लोग हैं सिर्फ उतने ही मेरे हैं, शेष सब लोग जो दूर के हैं मेरे दुश्मन हैं, तहाँ जातिवाद अपने पड़ोसी को भी 'अपना' कहने के लिए तैयार नहीं। वह कहता है—देश भर में छिट-फुट बिखरे हुए जितने मेरे जाति-भाई हैं सिर्फ वे ही 'मेरे' हैं, शेष सब 'दूसरे' हैं, या शत्रु हैं। मेरे पास का ही पड़ोसी, मेरे घर का काम करने वाली नौकरानी, नियमित रूप से दूध देने वाला घोसी, अनाज देने वाला बनिया, बाल बनाने वाला नाई, कपड़े धोने वाला धोबी, मेरे लड़कों को पढ़ाने वाला मास्टर, मेरा घर बनाने वाला बढ़ई और कारीगर, बर्त्तन बना कर देने वाले ठठेरे और कुम्हार, जूते गाँठने वाला चमार, घर के सामने झाड़ू लगाने वाला मेहतर, और घर का पाखाना साफ करने वाला भंगी, बीमारी में इलाज करने वाला डाक्टर, यह सब मेरे लिए दूसरे व दूर के किन्तु मुझसे हज़ारों मील दूर रामेश्वर, तंजोर, नागपुर, इंदौर, काशी, दिल्ली इत्यादि जगह रहने वाले जाति-भाई, जिन्हें मैंने आँख से देखा तक नहीं कि वे काले हैं या गोरे, और शायद देखूँगा भी नहीं, वे सब मेरे आत-इष्ट !!

वास्तव में तो 'अपना' व 'पराया' इस प्रकार का भेद ही आश्चर्य-जनक है। सच पूछिए तो संसार में सब ही सब के हैं। प्रत्येक मनुष्य विश्व-कुटुम्ब की एक इकाई है, परन्तु इतने से मनुष्य का संतोष नहीं होता। भरे घर में भी उसे एकाकीपन अनुभव होता है, डर लगता है। सब चीज़ों में कुछ-न-कुछ 'मेरी ही'—कह कर रख लिये बिना उसे चैन नहीं पड़ती, संतोष नहीं होता। विश्व-कुटुम्ब के पेट में भी मनुष्य एक छोटा कुटुम्ब बनाता है। माता-पिता, भाई, पत्नी, लड़के यह 'मेरे' हैं, उन्हें मुझसे प्रेम करना चाहिए और मुझे उनसे प्रेम करना चाहिए; वे मेरे काम आवें और मैं उनके काम आऊँ—इस प्रकार उनके-मेरे बीच एक अलिखित संकेत निश्चित होता है। मेरा कुटुम्ब, घराना तथा पास के, दूर के और सम्भाव्य सगे-सम्बन्धी मिलाकर मेरी जाति बन

जाती है। जितने जाति-भाई हैं उतने ही मुझे अपने मालूम होते हैं। यहाँ तक तो ठीक है कि यदि विदेशों में मुझे अपनी जाति का या जान-पहचान का अथवा अपने देश का कोई व्यक्ति मिल जाय तो मुझे प्राण-सखा मिलने-जैसा आनन्द हो, मुझमें दूना प्राण-संचार हो जाय। परन्तु मैं इस बात को भूल जाता हूँ कि इस प्रकार पाँच को 'अपने' कह कर जोड़ने में मैं पचास को 'दूसरे' कह कर तोड़ देता हूँ। इस प्रकार जो मैं तोले के लोभ से छटाँक को खो देता हूँ सो ठीक नहीं है।

संकुचित वृत्ति—जातिवाद और राष्ट्रवाद 'यह सब मूढ़ग्राह'—खामखा घोषित अनघड़ कल्पना—है। ईश्वर ने तुम्हें मनुष्य बनाया, असंख्य बन्धु-बांधव दिये। संसार भर में फैले हुए इन भाइयों का परिचय तेरे लिए असम्भव हो तो भी तुम्हें अपने गाँव के ही, तुम्हारे नित्य परिचय के, हज़ारों बन्धु प्राप्त हैं। ईश्वर ने तुम्हें इतनी बड़ी विरासत दी, सारा प्रदेश इनाम दे दिया किन्तु तुम अभागे बन कर, उसे ठुकरा कर एक कोना ही सँभाल बैठे हो और कहते हो कि "मेरी इतनी ही जगह है। इसके बाहर चारों ओर जंगल है और इसमें हिंसक पशु फिरते हैं। मैं तो अपनी हद से बाहर पैर नहीं रखूँगा और यदि रखूँगा भी तो बन्दूक से शिकार करने के लिए।" तुम हो तो महासागर किन्तु तुम्हारे दिमाग में यह पगलपन सवार है कि "मैं सागर नहीं, एक छोटा सा गड्ढा हूँ।" तकदीर तुम्हारी! तुम कहोगे "मैं समुद्र बनने के लिए तैयार हूँ लेकिन पहिले मेरे पड़ोसी गड्ढे अपना गड्ढापन छोड़कर सागर बनने के लिए तैयार हों तब तो? उन सब का तो गड्ढे ही कहलाने का आग्रह है फिर मैंने ही क्या पाप किया है कि मैं ही अकेला सागर बनूँ? खूब!!" यह ठीक है कि जातिवाद राष्ट्रवाद इत्यादि सभी संकुचितवाद संसर्गजात हैं और परस्पर पोषक भी हैं। यदि तेलियों ने अपना जाति-संगठन किया तो मालियों को भी अपना संगठन करने की सूझती है और इससे तेलियों के मूल संगठन का भी समर्थन होता है। मराठा लीग और ब्राह्मण-सभा, गौड़- महासभा और चितपावन-

परिषद्, हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग एक आधार पर ही काम करती हैं। एक का क्षय रोग दूसरे को लग जाता है किन्तु जो पीछे बीमार पड़ा है उसके रोग की अवस्था प्रारम्भिक ही होगी, ऐसा नहीं। उसकी प्रगति अधिक शीघ्रता से भी हो सकती है।

पेट के लिए आत्माहुति--विशेष आश्चर्य की बात यह है कि राष्ट्र या जाति के लिए लोग ज्यादा से ज्यादा त्याग करने को तैयार हो जाते हैं और प्राणों की भी परवाह नहीं करते। सच पूछिए तो परमार्थ के लिए ही मनुष्य को अधिक से अधिक त्याग करना उचित है। केवल तात्कालिक लाभ के लिए आत्म-बलिदान करने में न बुद्धिमानी है, न उदात्तता, और न पवित्रता ही है। वह तो ईर्ष्या, मद, दर्प, द्वेष, क्रोध, क्षोभ इत्यादि से उत्पन्न मोह का, अंधता का, या पागलपन का ही परिणाम है। वह शान्त, विचार-पूर्ण सात्विक, नम्र, प्रसन्न या प्रेमल वृत्ति का लक्षण नहीं। बहुत हुआ तो उसे भोलापन कह सकते हैं। पहले अपने यहाँ सती प्रथा थी। 'सती होने वाली' विधवा कितनी होती थीं और 'बनाई जाने वाली' कितनी होती थीं, इसकी मात्रा निश्चित करना आज सम्भव नहीं है। फिर भी ऐसी कल्पना है कि इस लोक का ऐश्वर्य और सगे-सम्बन्धियों का प्रोत्साहन इससे प्रभावित होकर और वैधव्य के दुखों से डर कर कुछ विधवाएँ सती होने का संकल्प करती होंगी। चिता का प्रत्यक्ष सामना करते ही उनकी इच्छा अपने संकल्प में रद्दोबदल करने की भी होती होगी, किन्तु धार्मिक विधि से किया संकल्प पूरा करना बहुत जरूरी माना जाता था। संकल्प-भ्रष्ट सती के भाग्य में इस लोक में अपयश और परलोक में रौरव नरक ही रहेगा, इससे उस सती की रक्षा करने के लिए उसके आत्मीय लोग भी उसे धधकती चिता में ही स्थिर रहने में 'मदद' करते होंगे।* किसी दृष्टि

---

*राजा राममोहन राय की भौजाई सती की गई थीं। उस प्रसंग का वर्णन उन्होंने इसी प्रकार किया है।

से देखिए, इतना निश्चित है कि शोकावेग, भोलापन या क्रूरता के सिवाय किसी भी प्रकार की उदात्त तत्व-ज्ञान-मूलक या अध्यात्मपूर्ण भूमिका सती प्रथा के मूल में नहीं थी।

किसान 'जमीन के लिए जान' देने को तैयार हो जाता है, कनक और कामिनी के लिए भी अनेक प्राण लिये और कभी-कभी दिये जाते हैं। छोटे बच्चे भी अपनी प्रिय मिठाई पाने के लिए भोजन छोड़ देते हैं। अपने राष्ट्र या जाति की दूसरे राष्ट्र या जाति की स्पर्धा में बढ़ती हो, इसके लिए मेरा भी प्राण देने को तैयार हो जाना उसी तरह का अविचार है।

मनुष्य को यदि अधिक से अधिक त्याग करना है तो वह तत्व के या सिद्धान्त के लिए करना चाहिए। सत्य की शोध के लिए या सत्य की स्थापना के लिए करना चाहिए। कर्त्तव्य-पालन के लिए या शील की रक्षा के लिए करना चाहिए। अन्याय या अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए करना चाहिए। यह सब परम मूल्य हैं और परम मूल्यों के लिए प्राण तक की कीमत चुकाना लाभदायक सौदा ही है। उसी प्रकार दूसरों के प्राण बचाने के लिए भी आवश्यक हो तो अपने प्राण देना चाहिए; बल्कि दूसरे का दुःख निवारण करने के लिए या सुख-समृद्धि के लिए भी देना चाहिए। अर्थात् वह संसार के सात्विक सुख की शुद्ध बाढ़ होनी चाहिए। वह एक को लूट कर दूसरे का घर भरने-जैसी न होनी चाहिए। आजकल मनुष्य के शारीरिक दुःख-निवारण के उद्देश्य से खोज के लिए नये-नये मेंढक, बकरे आदि को जीवित ही काट दिया जाता है, अथवा प्लेग-निवारक लस तैयार करने के लिए घोड़े मारे जाते हैं। इसके एवज़ में ऐसे खोज-प्रेमी व्यक्ति को ऐसे प्रयोगों के लिए खुद अपना ही शरीर दे देना चाहिये।

लेकिन न्यायग्रा जल-प्रपात में तैर कर जाने के लिए या सर्कस का आश्चर्य-जनक खेल दिखाने के लिए जीवन को खतरे में डालना साहस भले ही कहा जाय, बुद्धिमानी हर्गिज नहीं है। दूसरे लोग ऐसा

करें तो भले ही हम उनकी वाह-वाह कर दें परन्तु बुद्धिमान आदमी को उनका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये।

"स्वराज के लिए मरें?"—सन् १९३० की बात है, सत्याग्रह की लड़ाई की प्रारम्भिक तैयारियाँ चल रही थीं। एक सभा के वक्ता ने अपने ज़ोरदार भाषण में युवकों को संदेश दिया कि देश की आज़ादी के लिए आत्म-बलिदान करने को तैयार रहें। सभा के अध्यक्ष एक प्रौढ़ और "व्यावहारिक" व्यक्ति थे। वे "वक्तृत्व की बाढ़ में बह जाने वाले" नहीं थे। अपने उपसंहारात्मक भाषण में उन्होंने वक्ता की "बेलगाम" विचार-सरणी की खूब ख़बर ली। उन्होंने कहा—"देश की आज़ादी के लिए मरना क्या पागलपन नहीं है? मरने के बाद स्वतन्त्रता का उपभोग कौन करेगा?"

गाँधीजी का आश्वासन—इसके बिलकुल प्रतिकूल सन् १९२१ के अन्त में अहमदाबाद कांग्रेस के व्यास-पीठ से महात्मा गाँधी ने ब्रिटिश सरकार को आश्वासन दिया कि "यदि तुम्हारा उद्देश्य बाहुबल के आधार पर ही अपनी ज़ुल्मी सत्ता क़ायम रखना है तो मैं भी आश्वासन देता हूँ कि वह सत्ता नष्ट होगी और यदि इस प्रयत्न में तमाम भारतवासियों को प्राण भी गँवा देने पड़े तो हर्ज नहीं।"

हमारे वे अध्यक्ष महोदय तो स्वतन्त्रता के लिए एक बूँद भी रक्त देने को तैयार नहीं थे, लेकिन गांधी जी का स्वतन्त्र हिन्दुस्तान मनुष्य-विहीन भी हुआ तो कोई चिन्ता नहीं। दोनों ही देश-भक्त, दोनों ही स्वतन्त्रता चाहते थे। तो फिर स्वतन्त्रता के लिए दी जाने वाली दोनों की कीमतों में इतना अन्तर क्यों?

कारण यही है कि अनेक व्यावहारिक व्यक्तियों के मन में जो विचार-धारा अस्पष्ट और अनिर्णीत स्थिति में रहती है उसी को इन अध्यक्ष महोदय ने खोलकर रख दिया।

इस विचार-सरणी के अनुसार स्वराज्य एक उपभोग की वस्तु है। देश-बन्धु या जाति-बन्धु मेरी सुख-सुविधा के लिए एकत्र किये गये

साथी हैं। जाति या राष्ट्र का अर्थ है आत्म-रक्षा और आक्रमण के लिए बनाया गया संगठन (अफेंसिव ऐंड डिफेंसिव अलायंस) अथवा साझेदारों की एक कम्पनी ही कहिये न? उस कम्पनी की तरक्की के लिए मैं भी दूसरों के बराबर पूँजी लगाऊँगा, परन्तु कम्पनी को अमित लाभ पहुँचाने के लिए प्राण अर्पण करना बिलकुल पागलपन होगा।

अथवा यों कहा जा सकता है कि "संसार एक रण-भूमि है। उसमें सब सबसे लड़ रहे हैं, सब सब के दुश्मन हैं। एका को कंपू समझ लीजिए। शत्रु का मुकाबला करने के लिए दूसरे कुछ शत्रुओं को काम-चलाऊ अपने पक्ष में लेना पड़ता है। रेलगाड़ी का डिब्बा छोटा है, मुसाफिर अधिक हैं। हर मुसाफिर की शेष सारे यात्रियों से होड़ लगी है, लेकिन यदि मैं दो-चार मुसाफिरों से मेल कर लूँ तो वे और मैं मिलकर सहयोग से पाँच-सात आदमियों के लिए डब्बे के एक भाग पर अपना कब्ज़ा कर सकता हूँ। किन्तु इसके साथ ही मेरे मन में यह इच्छा भी रहेगी कि खिड़की के पास की, सुविधाजनक और अधिक से अधिक जगह, मुझे मिले। इसके लिए मैं अपने मित्रों को भी चकमा देने का प्रयत्न करता हूँ अथवा जब मुझे यह यकीन हो जाता है कि यह बात सधने-जैसी नहीं है तभी चुप रहता हूँ। अली बाबा की कहानी में चोरों के नायक को भी इसी तरह से चालीस मित्र बनाना पड़े थे। इस सनातन और सर्वव्यापी महायुद्ध में आक्रमण ही आत्मा-रक्षा का मार्ग और शान्ति का अर्थ है आक्रमण के बीच की छुट्टी। यहाँ पर कोई किसी का नहीं, मेरा मैं ही हूँ। मित्र आप्त सब काम के ही सगे हैं। राष्ट्र के पारस्परिक व्यवहार में भी यह न्याय चलता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। इतना ही कि व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में यह न्याय अधिकतर छिपा रहता है किन्तु मूलतः प्रकार वही है।

युक्तता और उपयुक्तता:—इस विचारधारा को हम उपयोगितावाद कह सकते हैं। इसके विरुद्ध महात्मा गांधी की उपर्युक्त विचार-धारा युक्तावादी है। "हिन्दुस्तान की आज़ादी युक्त बात है। वह ईश्वरी

योजना है। पराधीनता अयोग्य और अनुचित बात है, वह ईश्वरी योजना का भंग है। वह उस मानवता के प्रति द्रोह है जो हमें ईश्वर के प्रतिबिम्ब के रूप में प्राप्त हुई है। स्वराज्य कोई मिठाई नहीं है; वह तो आत्मा की एक उन्नत व स्पृहणीय अवस्था है। उसे प्राप्त करने के लिए इस जन्म का यह एक ही शरीर क्या जन्म-जन्मान्तर के अनेक शरीर छोड़ने की नौबत आ जाय तो भी कोई हर्ज नहीं। उस उच्च ध्येय के आगे हमारे शरीर कुछ नहीं हैं। स्वराज्य प्राप्त करने के लिए हम जो प्राणों की बाज़ी लगाते हैं वह साझेदारों को इस व्यापारी कम्पनी के लिए नहीं, वरन् परमेश्वर के लिए, उसकी योजना को सफल बनाने के लिए है।"

इसमें उपयोगिता भी सध जाती है। जो युक्त है वह उपयोगी भी है ही। अलबत्ते वह उपयोगिता भी शाश्वत, व्यापक व सार्वभौम है। वह माप-दंड द्वारा नहीं नापी जा सकती। वह अतीन्द्रिय है। जैसे कि पृथ्वी के छोटे-छोटे पदार्थों का भी वज़न होता है, किन्तु यदि सारी पृथ्वी का वज़न देखा जाय तो या तो बहुत ज़्यादा है या बिल्कुल ही नहीं। पदार्थ के वजन का मूल ही पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति है। किन्तु पृथ्वी खुद अपने को आकर्षित कर सकती है? और उसका वजन भी कौन सी तराजू से तथा किस बाट से किया जायगा? इसी प्रकार युक्तता सारे मूल्यों का आधार है। वह उपयोगिता की माँ है तो अब खुद उसकी उपयोगिता को कौन नाप सकता है?

मेरा अपना यह साढ़े तीन हाथ का शरीर मेरी अस्मिता का प्रस्थान-बिन्दु है। यह अस्मिता विस्तार पाना चाहती है, कुटुम्ब, वंश, देश यह सब उसकी प्रगति के पड़ाव हैं परन्तु अंतिम ध्येय उसका विश्व या ईश्वर ही है। वहाँ पहुँच जाने तक इस अस्मिता को विश्राम नहीं; मानवीय जीवन के ये अपर और परम सिरे हैं। यदि उपयोगितावाद कहीं भी नर्तन करता हुआ दिखाई दे तो उसका आकर्षण थोड़े की तरह है, वह अवलम्बित है। और युक्ततावाद कहीं भी खड़ा रह जाय तो

भी उसकी नज़र अंतिम ध्येय पर ही रहती है। वह परम-निष्ठ है। इन निष्ठाओं को ही हम चाहें तो स्वार्थ और परमार्थ ये दोनों नाम दे सकते हैं। उपयोगितावाद स्वार्थी व युक्ततावाद परमार्थी है।

संघटन में से ही विघटन—देश-सेवा और जाति-सेवा परमार्थ-परक होनी चाहिए। परन्तु ऊपर हमने जिस राष्ट्र-वाद और जाति-वाद का उल्लेख किया है वह परमार्थपरक न होकर स्वार्थपरक होता है। इसीलिए हमारा उससे विरोध है। "विदेशी लोग ठग हैं; वे हमको ठगने पर तुले बैठे हैं। अतः उन्हें ठगने के लिए हमें भी संघटित होना चाहिए। इस भावना से किये गये संघटन से विघटन ही उत्पन्न होगा, जो न्याय हम संसार पर लागू करते हैं वही खुद हम पर भी उलटे बिना नहीं रहेगा। राष्ट्रवाद में से जातिवाद और जातिवाद में से उपजाति-वाद या दूसरी दृष्टि से राष्ट्रवाद से प्रान्तवाद और प्रान्तवाद में से विभागवाद उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेंगे। जैसा बीज वैसा ही फल। जिस कारण से हिन्दू-मुसलमान को एक दूसरे के खिलाफ संघटन करना पड़ता है, ठीक उसी कारण से ब्राह्मण अ-ब्राह्मण, शिया सुन्नी, आदि को भी एक दूसरे के खिलाफ संघटन करना पड़ता है। आगे चलकर इसी क्रम से ब्राह्मण-ब्राह्मण में, तेली-तेली में, चमार-चमार में, भी इसी प्रकार के टुकड़े हो जाते हैं। समाज का चूर-चूर हो जाना ही इस संकोचवाद का और फूट-फाट का अंतिम परिणाम है। स्वार्थ के लिए बनाये मित्र उसी स्वार्थ को पूरा करने के लिए छोड़ देने पड़ते हैं। दो चोर लूट-मार करके वापिस जाते समय नाश्ता करने के लिए गाँव के बाहर एक कुएँ के पास ठहर गये। एक चोर गाँव में नाश्ते का सामान लेने गया। उसे सूझा कि अपने साथी को ज़हर देकर मार डालना चाहिए, जिससे कि सारी लूट मुझ अकेले को ही मिल जायगी। ऐसे विचार से वह आधी मिठाई में ज़हर मिला कर कुएँ पर वापस लौट आया। जब पानी खींचने के लिए वह कुएँ पर झुका तो उसी समय उसके मित्र ने उसे धक्का देकर कुएँ में गिरा दिया क्योंकि सारी लूट मुझे ही मिले तो बेहतर, इस

बात में उसका अपने उस मित्र से एक-मत था। मिठाई भी आधी नहीं बल्कि सब की सब उसी को खाने के लिए मिल गई। उसके साथ ही मृत्यु का भी पूरा हिस्सा उसे मिल गया, और अन्त में चोरी का माल भी दोनों को बराबर-बराबर मिल गया!

अपनेपन से प्यार—"सर्वः कांतमात्मीयं पश्यति" यानी 'अपना सो तो लल्ला, गैर का सो निगोड़ा' यह दुनिया की (एक) रीति है। एक प्रकार से यह ईश्वरी कृपा है। सब किसी को अपनी भाषा मधुर लगती है, अपना घर सुहावना लगता है। अपने बच्चे दूसरे बच्चों से सलोने लगते हैं, अपनी स्त्री रम्भा लगती है। इसीलिए तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति में संतोष और आनन्द से रहता है। परन्तु कमल के नीचे मगर भी होता है उसी तरह इस सद्वृत्ति के साथ ही 'गैर का सो निगोड़ा' यह दुष्ट वृत्ति भी रहती है। बस, यही बुरी बात है। दूसरों के देश, उनके रीति-रिवाज, धर्म, भाषा, संगीत, कला सबसे हमें घृणा होती है। यह एक प्रकार की नास्तिकता है; इस वृत्ति से दो मनुष्य भी इकट्ठे नहीं रह सकते। "जैसा मैं हूँ, वैसे ही दूसरे हैं। मेरे हृदय का ईश्वर ही दूसरों के हृदय में निवास कर रहा है, जिस तरह मुझे दूसरों के दोष दिखाई देते हैं, उसी प्रकार मुझे न मालूम होने वाले मेरे दोष दूसरों की आँखों में खटकते होंगे। जैसे मैं यह चाहता हूँ कि दूसरे मेरे दोषों को निभा लें उसी तरह दूसरों को निभा लेना मेरा कर्त्तव्य है।" ऐसी वृत्ति हो जाने पर जिस प्रकार दो आदमी आनन्द से साथ रह सकते हैं उसी प्रकार दो राष्ट्र भी रह सकेंगे। जिस सीमेंट से दो ईंटें जोड़ी जाती हैं उसी से नदियों को पार करने वाली कमानियाँ खड़ी की जा सकती हैं।

दो प्रवृत्तियाँ—जो व्यक्ति अपने देश पर निरपेक्ष भाव से प्रेम नहीं कर सकता बहुत संभव है कि उसका अपने कुटुम्ब पर भी निरपेक्ष प्रेम न हो। जो देश को सुख का साधन मानता है वह अपने बाल-बच्चों को भी अपने सुख का साधन ही मानता है और अपने सुख के लिए उनका बलिदान कर देने में आगे पीछे नहीं देखता। इसके

प्रतिकूल जो माता अपने बच्चों पर निरपेक्ष प्रेम करती है उसे उसका वह अपत्य प्रेम ही दूसरों के लिए भी वात्सल्य भाव रखना सिखायेगा। जो सच्चा देश-सेवक है वही विश्वसेवक भी हो जायगा।

स्वार्थ और परमार्थ ये दो प्रवृत्तियाँ हैं। ये सनातन और सर्वस्पर्शी हैं। यह नहीं कि संकुचित निष्ठा वाले प्रत्येक व्यक्ति के मन में उपर्युक्त एकांतिक स्वार्थी भूमिका स्पष्ट रहती है। वह तो उसकी स्वार्थी वृत्ति का कार्य-कारण-सम्बन्ध बताती है। यह भी नहीं है कि निरपेक्ष वृत्ति से काम करने वाले सेवक के मन में विश्व-ऐक्य की या सर्व-भूतात्म की भावना जागृत रहती है। वह तो उसकी वृत्ति का विशदीकरण है। यह भी नहीं है कि कोई एक व्यक्ति किसी भी एक वृत्ति से परिपूर्ण रहता हो। प्रत्येक व्यक्ति में ये दोनों वृत्तियाँ अपने-अपने प्राबल्य के लिए झगड़ती रहती हैं। किसी व्यक्ति में एक प्रवृत्ति की, तो किसी में दूसरी प्रवृत्ति की प्रधानता रहती है। एक ही व्यक्ति में भी कुछ समय तक एक प्रवृत्ति और कुछ समय तक दूसरी प्रवृत्ति कम या ज्यादा प्रधान रहती है। प्रत्येक के हृदयरूपी कुरुक्षेत्र में यह सनातन युद्ध चल रहा है। इसमें सत्पक्ष की प्रगति होने के लिए यथार्थ ज्ञान का प्रकाश बहुत सहायक होगा।

ईश्वरार्पण कर्म—जातिनिष्ठा या राष्ट्रनिष्ठा से हमारा मूलतः विरोध नहीं है। सेवा का क्षेत्र कितना ही छोटा या बड़ा हो सेवक की दृष्टि व्यापक और ईश्वराभिमुख होनी चाहिए, संकुचित और ईश्वर-पराङ्मुख नहीं। अपने शरीर के ही सुख-साधन में लगे रहने की अपेक्षा अपने बाल-बच्चे और आत्मीय लोगों के सुख के लिए प्रयत्न करना अधिक अभिनन्दनीय है; इतना ही कि दूसरे कुटुम्बों से द्रोह करके अपने ही कुटुम्ब का भरण-पोषण करना श्रेयस्कर नहीं है। यदि इस कौटुम्बिक वृत्ति का गाँव या पंचक्रोशी तक प्रसार हो तो वह स्तुत्य ही है। केवल इतना हो कि सारे प्रदेश को लूटकर अपने ही गाँव को धनी बनाने की बुद्धि नहीं होनी चाहिए। यदि ब्राह्मण-संघटन ब्राह्मणों

की पारस्परिक विषमता नष्ट करके आन्तरिक बन्धुत्व की भावना और समानता के भाव भरने के लिए और समाज-सेवा के लिए ब्राह्मणों को तैयार करने के उद्देश्य से हुआ तो ब्राह्मणेतर भी उनकी मदद करेंगे। हिन्दू संघटन भी न्याय-दृष्टि रखकर सब प्रकार से करना आवश्यक है, सामाजिक समता, अस्पृश्यता-निवारण, कुप्रथा-निर्मूलन, धर्म-जागृति जैसे अनेक काम आवश्यक हैं। राष्ट्रसेवा तो पवित्र वस्तु है ही। लेकिन उसी समय जब कि उसके प्रति दूसरों के द्वेष की भावना बिल्कुल न हो और वह उसी तरह से हो कि जिससे दूसरों की हानि न हो।

कुटुम्ब, गाँव, जाति या राष्ट्र की सेवा ईश्वरार्पण बुद्धि से—ईश्वर की सेवा का हमारे हिस्से में आया अल्प अंश मानकर, ही करना चाहिए। जिस प्रकार एक वफादार सिपाही अपने हवलदार की आज्ञा पालन करके अपने राजा की ही सेवा करता है और विद्रोही ठहराया जाता है उसी प्रकार कुटुम्ब-निष्ठा और राष्ट्र-निष्ठा भी विश्वद्रोही न होनी चाहिएँ।

तात्त्विक और व्यावहारिक निष्ठा—पिछले प्रकरण के विवेचन में यह बात ध्यान में आ ही गई होगी कि नीति-नियमों का पालन विश्व-निष्ठा की कसौटी है। लेकिन केवल विश्व-निष्ठा पर्याप्त नहीं है। उस तात्त्विक निष्ठा के साथ ही उसे व्यवहार में लाने के लिए देश-निष्ठा भी होनी चाहिए। तात्त्विक ऐक्य अथवा समता और व्यावहारिक ऐक्य अथवा समता का अन्तर समझ लेना आवश्यक है। "शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।" (ब्राह्मण) "ज्ञानी व्यक्ति को कुत्ते और चाण्डाल में कोई भेद नहीं दिखाई देता।" (गीता) इस तरह की वेदान्ती समता तो इसमें परिपूर्ण है, लेकिन वही गीता-पाठक ब्राह्मण भिन्न उपजाति के ब्राह्मण का आतिथ्य करते समय उसकी पत्तल दूर रखेगा और जूठन भी उसी से उठवायेगा। हिन्दू महासभा के एक बड़े नेता ने एक बार मुझसे कहा कि—"हिन्दू महासभा का

दृष्टिकोण बिल्कुल संकुचित नहीं है, हिन्दुओं की उन्नति करना और उसके द्वारा मानव-समाज की सेवा करना ही हमारा उद्देश्य है।" लेकिन उनको यह खबर ही नहीं कि हिन्दू और मानव-जाति के बीच 'हिन्दुस्तान' नाम की एक और मंजिल है। 'माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेदीय देशस्थ ब्राह्मण संघ' यदि अपनी जाति और उसके द्वारा भूतमात्र की सेवा करने का ध्येय रखे तो उसे संकुचित कैसे कहा जा सकता है?

अतः हम यह विशेष रूप से कहना चाहते हैं कि सेवक की दृष्टि तत्वतः विश्वनिष्ठ होनी चाहिए। वह देश, प्रान्त, विभाग, इत्यादि स्वाभाविक विभागों का अनुसरण करके ही कार्यान्वित होनी चाहिए।

भिन्न-भिन्न प्राणी एवं वनस्पतियों के भी आकार की बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी मर्यादा बनी हुई है। बकरा कितना भी मोटा हो जाय लेकिन वह हाथी की बराबरी नहीं कर सकता और बैंगन कितना ही बढ़ जाय वह कद्दू की बराबरी नहीं कर सकता।

हर एक प्राणी और फल की शक्ति इस प्रकार सीमित है। उसी प्रकार मैं व्यावहारिक ऐक्य कितने लोगों के साथ साध सकता हूँ, यह मेरी शक्ति पर निर्भर है। अन्तर इतना ही कि यह शक्ति निसर्गाधीन न होकर मेरे ही हाथ में है। पैगम्बर मुहम्मद साहब का जीवन-कार्य शुरू होने के समय अरबस्तान में अनेक छोटे-छोटे कबीलों का बोल-बाला था। मुहम्मद साहब ने उन सबको एक बनाकर महान अरब-जाति बनाई। इंग्लैंड, स्काटलैंड और वेल्स भी पहिले अलग-अलग राष्ट्र थे। धीरे-धीरे वे आपस में मिलकर विशाल-ब्रिटेन बन गये। इसके विपरीत युरोप में कदम-कदम पर एक-एक राष्ट्र बन गये हैं। हम भारतवासियों की भी व्यावहारिक ऐक्य-भावना देशव्यापी है, ऐसा कहने में हमारा यही मतलब है कि हमारे संघ-शरीर की बाढ़ एरंड के बराबर न रहकर वट वृक्ष के बराबर हो जाय। मनुष्य का ऐहिक उत्कर्ष उसकी इस सांघिक अस्मिता की शक्ति पर बहुतांश में अवलंबित है।

विशाल दृष्टि और अल्प कृति—यहाँ तक हमने इस मुद्दे पर जोर दिया है कि सेवक की दृष्टि विशाल होनी चाहिए। किन्तु विशाल दृष्टिकोण के साथ ही यह भी आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार सेवा के लिए मर्यादित क्षेत्र निश्चित कर ले। नहीं तो विश्व-सेवा का जप करता हुआ मनुष्य केवल आकाश की ओर—शून्य की ओर देखता भटकता रहेगा। बाइबिल में ईश्वर के मुँह से ये शब्द कहे गये हैं—"मैं तेरे दरवाजे पर गरीब के रूप में आश्रय पाने के लिए आया, किन्तु तूने मुझे घर में नहीं बुलाया। मैं जख्मी होकर आया, लेकिन तूने मेरे ज़ख्म पर पट्टी नहीं बाँधी। मैं भूखा आया किन्तु तुमने खाने के लिए कुछ नहीं दिया। मैं नंगा आया, किन्तु तुमने मेरा तन ढका नहीं।" इत्यादि। और दूसरी जगह कहा है 'मेरे छोटे से छोटे प्राणी की तू जो-कुछ सेवा करेगा वह मुझे ही पहुँचेगी।' समर्थ रामदास ने भी कहा है :—

"तो नारायण असे विश्वीं। त्याची सेवा करीत जावी।
त्या कारणें तोषवावी। कोणी तरी काया॥"
"विश्व भर में है वह जगदीश, इष्ट उसकी सेवा आशीष।
उसी के लिए करे संतुष्ट, विश्व के भूतमात्र परिपुष्ट॥"

देश, समाज, गाँव ये उपास्य देव भी अमूर्त ही हैं, फिर देश के ४० करोड़ लोगों की सेवा कैसे करेंगे? नाम चाहे किसी भी देव का, देश का या गाँव का ही ले लिया जाय किन्तु सेवा का अन्तिम पात्र तो कोई न कोई व्यक्ति ही होता है। टाल्सटाय ने इसी मुद्दे को एक कहानी में बड़े ही सुन्दर ढंग से उपस्थित किया है। सबसे अधिक महत्व वाला मनुष्य कौन? सबसे अधिक महत्व का काम कौन सा? और सबसे अधिक महत्व का समय कौन सा? टाल्सटाय का उत्तर है कि अपने सामने वाला व्यक्ति ही सबसे अधिक महत्व का व्यक्ति है। हाथ में का काम ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम है। और वर्तमान समय ही सबसे

अधिक महत्व का समय है। इसी में अपनी सेवावृत्ति, कार्य-कुशलता, और योजना-शक्ति दिखाओ।

इसके विपरीत मैं देश-सेवा करूँगा, मेरा यह काम कितना उदात्त और विशाल है। इस तरह के भ्रम से मनुष्य अपने घर के व्यक्तियों की उपेक्षा करता है; सब प्रकार से माता-पिता और मित्रों से सेवा लेता है। किन्तु उस सेवा के ऋण से उऋण होना उसे आवश्यक नहीं मालूम होता। देश-भक्त को घर की बुढ़िया माँ के पैर दबाने बैठने की कहाँ फ़ुरसत है? देश के लिए फाँसी पर लटक जाने की इच्छा करने वाले हमारे एक मित्र अपने शरीर के अनेक चोंचले पूरे करते रहते हैं। देश पर निछावर यह शरीर फाँसी के तख्ते पर लटकने का शुभ समय आने तक बीच के समय में सुख क्यों न भोगे? वही एक समय धन्य है, वही एक पवित्र कर्त्तव्य है। उसके आने तक बीच का सारा समय अधन्य ही है। फिर उस समय के कर्त्तव्य करने का प्रश्न ही कहाँ रहा? इस तरह हाथ का छोड़कर भागने वाले के पीछे लगना भ्रम है। सेवक को इससे बचना चाहिए। ईश्वर की सृष्टि का कोई भी समय, कोई भी व्यक्ति और कोई भी कार्य क्षुद्र नहीं है। उसे सच्चे हृदय से, आस्था से और अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर करना सफलता की कुंजी है। एक अंग्रेजी वचन है कि हमारा जीवन क्षुद्र घटनाओं से भरा हुआ है। परन्तु स्वयं जीवन को क्षुद्र कौन कहेगा?*

सारांश यह है कि हमारी दृष्टि विशाल होनी चाहिए, और अंतिम ध्येय पर लगी रहनी चाहिए। फिर काम कितना ही छोटा क्यों न हो, बल्कि वह तो छोटा, छोटा ही होना चाहिए। पढ़री के यात्रियो—

"मार्ग पर धीरे-धीरे चलो, जीभ से हरि विट्ठल बोलो।"

---

* "लाइफ़ इज़ मेड ऑफ़ ट्रायफ़ल्स, बट लाइफ़ इटसेल्फ़ इज़ नाट ए ट्रायफ़ल।"

६

नकली सेवा

जिस तरह धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के अधर्म होते हैं उसी प्रकार सेवा के नाम पर भी अनेक अनर्थ होते हैं। उनमें से राष्ट्रवाद और जातिवाद का विचार हो चुका है। ऐसे ही और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। इसमें से कुछ अनर्थ तो सेवक की नासमझी से, अस्पष्ट कल्पना से, भोलेपन से, अनुभवहीनता अथवा आत्म-वंचना से होते हैं। लेकिन कितने ही दंभ से होते हैं। यह बात नहीं है कि किसी भी प्रकार के अनर्थ का मूल केवल दंभ ही है। बल्कि दोनों ही कम-अधिक मात्रा में रहते हैं। दंभ भी आखिर अज्ञान का ही परिणाम है और अज्ञान या दूषित दृष्टि की जड़ में भी दंभ का छिपा रहना संभव है। फिर भी सेवा के विकृत प्रकारों का मोटे रूप में दंभ-प्रधान और अज्ञान-प्रधान ऐसा वर्गीकरण किया जा सकता है। ऐसे कुछ प्रकारों का हम यहाँ विवेचन करेंगे। इसमें हेतु यही है कि सेवा-मार्गियों को आत्म-संशोधन में मदद मिले और वे खतरे से सावधान रहें। अब हम यहाँ पहिले सेवा के नकली प्रकारों का विचार करेंगे।

(१) उमंग, उत्सुकता, जिज्ञासा इत्यादि—विद्यार्थी और नव-युवक आदि भिन्न-भिन्न स्वयंसेवक दलों में सम्मिलित होते हैं। उसके मूल में निरपेक्ष सेवा की अपेक्षा उमंग, उत्सुकता, जिज्ञासा इत्यादि ही अधिकांश में होती हैं। कांग्रेस के अधिवेशन, बड़े-बड़े नेताओं के दौरे, सुदूर प्रदेशों की बाढ़, भूकंप, इत्यादि आपत्तियों के निवारण के मौकों पर अनेक उत्साही युवक दिलोजान से काम करते हैं। परन्तु वे ही अपने परिचितों की सेवा करने को उतने उत्सुक नहीं रहते। 'अतिपरि

चयात् अवज्ञा'। रोज की परिचित वस्तु अथवा व्यक्ति के सम्बन्ध में कोई विशेषता नहीं मालूम होती। स्वयंसेवक होने से नये मनुष्य, नये प्रदेश, अपूर्व प्रसंग, कुछ नवीनता देखने को मिलेगी, ऐसे अनुभव मिलेंगे जिनका दूसरों के सामने आकर्षक वर्णन कर सकें, यात्रा हो जाय, परिचय बढ़े, वर्दी डाट सकें, अपना फोटो खिँच जाय और अखबारों में छप जाय। इसी तरह की अस्पष्ट आकांक्षाएँ उत्साही युवकों के मन में उठती रहती हैं। और इस बात से कि हमें काम करने के लिए नया क्षेत्र मिला, नया मौका मिला, एक सूक्ष्म और सात्विक समाधान मालूम होता है। उसी प्रकार किसी बड़े काम के, संघ के अथवा दल के घटक बनने में जो आत्म-विश्वास की अनुभूति होती है वह भी लुभावनी होती है। उनमें भी यदि नायक के पद का, जिम्मेदारी का, काम मिल गया अथवा अपने काम की प्रशंसा हो गई तब तो कार्यकर्ता और भी खुश हो जाता है। हमारे कहने की मंशा यह नहीं है कि यह वृत्ति अनिष्ट या निंद्य है। हमें तो इतना ही स्पष्ट करना है कि ये वृत्तियाँ स्वाभाविक हैं किन्तु इनमें सेवा या कर्तव्य-बुद्धि मुख्य नहीं है। इसीलिए काम की नवीनता के नष्ट होते ही उसके लिए उत्साह और आस्था भी क़ायम नहीं रहती। न-कुछ कारण से ही स्वयंसेवक निराश हो जाता है। उसी प्रकार महत्वपूर्ण मौकों पर तमाशा देखने की उत्सुकता में कर्तव्य का महत्व भुला देता है। कांग्रेस के अधिवेशन के समय स्वयं-सेवक दल खड़े किये जाते हैं। उनका काम शुरू में तो नियम से चलता है। किन्तु जहाँ नेता लोग आये, भीड़ हुई, अध्यक्ष का जुलूस निकला, और अधिवेशन का समा बँधा कि दल-नायकों के लिए स्वयं-सेवकों को ढूँढ़ना भी कठिन हो जाता है।

(२) *महत्वाकांक्षा*—अथवा मान-सम्मान, प्रसिद्धि, कीर्ति, आदि की इच्छा तो सार्वजनिक कार्यों के मूल में अकसर रहती ही है। इस वृत्ति का परिचायक एक मार्मिक मुहाविरा अंग्रेजी में है Get on—Get honour—Get honest पहले पेट-पूजा, फिर मान-सम्मान

और उसके बाद पाप-पुण्य का विचार। व्यापार-धन्धा, वकालत, वैद्यक, इत्यादि काम चल निकलने पर जब आर्थिक दृष्टि से निश्चिन्तता हो जाती है तब मनुष्य के मन में सामाजिक प्रतिष्ठा की इच्छा उत्पन्न होती है। कुछ निःस्वार्थ लोगों को द्रव्य की अपेक्षा अथवा उससे पहिले भी मान-सम्मान का महत्व प्रतीत होता है। इसके लिए वे किसी-न-किसी तरह का सेवा-कार्य अंगीकार कर लेते हैं। शोहरत की दृष्टि से तो अक्सर राजनीतिक अथवा राजमान्य काम ही विशेष सुविधा-जनक रहते हैं। ऐसे सामाजिक सुधार के काम भी चल सकते हैं जो शिष्ट-सम्मत हों और जिनके लिए किसी विशेष अवसर पर कुछ उदात्त विचार प्रकट करने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार हाथ-पाँव हिलाना न पड़े। अक्सर लोकलबोर्ड, म्युनिसिपैलिटी, धारासभा, सरकार-नियुक्त समितियाँ ही ऐसे मान-धनी कार्यकर्ताओं के 'सम्माननीय' कार्य-क्षेत्र होते हैं। फिर भी यह बात नहीं है कि कांग्रेस या किसी जाति-निष्ठ संस्था में उन्हें अपनी कार्य-कुशलता दिखाने का मौका नहीं मिलता। कोई आश्रम, छात्रालय, अनाथालय, अथवा रुग्णालय-जैसे सतत जिम्मेदारी के काम की ओर इन लोगों का झुकाव नहीं होता।

"जैसे तैसे कुछ भी करके
जग में यश लेता जी भरके।"

यही ऐसे लोगों का सिद्धान्त-वचन रहता है। उनका नाम और चित्र हमेशा समाचारपत्रों में चमकना चाहिए। दौरे, व्याख्यान, परिषद, ये हैं उनके प्रिय कार्य-क्रम। वे उसी संस्था या पक्ष का समर्थन करते हैं जिसमें वे नेता बनकर रह सकें। फिर उस पक्ष का मत या उस संस्था का कार्य-क्रम कैसा ही क्यों न हो! एक पक्ष या संस्था से पटरी न बैठने पर वे दूसरा दल या संस्था बना लेते हैं। "स्वर्ग में दास बनकर रहने की अपेक्षा नरक में राजा बनकर रहने में" उन्हें अधिक शोभा मालूम होती है। यदि अध्यक्ष या नेता की जगह न

मिले तो वे उस पक्ष या संस्था को ही छोड़ कर दूसरा विरोधी दल बना लेंगे।

परन्तु साधारण जनता के हित की दृष्टि से यह महत्वाकांक्षी वृत्ति अनेक बार बहुत हानिकारक होती है। वह सेवा का बहाना करती है इस कारण वह विशेष रूप से घातक होती है। इस वृत्ति से तो अनेक पवित्र और लोक-हितकारक सत्कर्म चूर-चूर हो जाते हैं। लोगों की दिशा-भूल और नेताओं में परस्पर स्पर्धा के कारण खींचातानी होने लगती है। धारा-सभा या स्थानीय संस्था के चुनाव में, तथा इधर तो कांग्रेस के चुनाव में भी, सत्य की तोड़-मरोड़, रिश्वतखोरी, भीड़-भाड़, जातीय अन्धता का आश्रय, अनाप-शनाप खर्च, ये सब इस महत्वाकांक्षी वृत्ति के ही कारण होते हैं। जिसे वास्तव में सेवा करना है उसके लिए ये सब बातें बिलकुल निषिद्ध हैं।

(२) *प्रभुत्व*—जनता का 'सेवक' उम्मीदवारी के कुछ दिन बिताने के बाद धीरे-धीरे जनता का 'नेता' बन जाता है। नेता एक प्रकार से प्रभु ही होता है। उसे कितनी ही बार 'बेताज बादशाह' का खिताब भी दे दिया जाता है इसलिए प्रभुत्व या सत्ता चलाने की इच्छा का भी अत्यन्त सूक्ष्म, किन्तु प्रभावकारी रूप में सेवक के मन में रहना सम्भव रहता है। मान-मान्यता की इच्छा से ही कुछ अंश में मिलती-जुलती यह लालसा भी है। शिक्षक विद्यार्थियों की सेवा करता है, किन्तु यदि विद्यार्थी ने उसकी आज्ञा या सुझाव को नहीं माना तो उसे संताप होने लगता है; कम से कम उसका दिल खट्टा तो हो ही जाता है। यह इस सत्ता-लोभ का ही परिणाम है। यदि कोई स्त्री या पुरुष किसी अनाथ शिशु को गोद लेकर मन से वात्सल्य-पूर्वक पालन-पोषण करता है तो वह यह अपेक्षा रखता है कि वह माता या पिता के स्थान पर हमारा ही नाम लिखे और हमारे कहे अनुसार काम करे। प्रेम (अर्थात् आसक्ति) और मत्सर प्रकाश और छाया की भाँति प्रति-

दिन एक दूसरे से संलग्न पाये जाते हैं। मत्सर का जन्म सत्ता-लोभ में से ही होता है।

सेवा के मूल में अपनापन होता है। जो अपना मालूम होता है उसी की हम लोग सेवा करते हैं, यह बात हम पहले ही देख चुके हैं। सत्ता में भी अपनापन होता है। किन्तु अपनेपन के ये दोनों प्रकार एक दूसरे के विरुद्ध हैं। सेवा कहती है—'मैं तेरा', सत्ता कहती है 'तू मेरा'। अभेद स्थिति की ओर देखने के ये दोनों भिन्न-भिन्न दृष्टि-कोण हैं। वे एक दूसरे के पूरक हैं और अन्त में एकत्र होकर मिल ही जाने वाले हैं। यदि मैं सच्चे हृदय से निरपेक्ष रूप से तेरा हो गया हूँ तो फिर तू भी निस्सन्देह मेरा हो ही जायगा। और जब तक मैं तेरा न हो जाऊँगा तब तक तू मेरा कभी हो नहीं सकता। जैसा देंगे वैसा पावेंगे। "दयाधन भक्ति से जाना" हम जहाँ भगवान के दास बने कि भगवान् हमारा दास बनेगा ही। जो न्याय भगवान् पर लागू होता है वह प्रत्येक मनुष्य पर भी लागू होता है। सेवक का कर्तव्य तो केवल आत्म-निवेदन और आत्मसमर्पण ही है। पूजा के अन्त में तो प्रसाद मिलेगा ही; किन्तु यदि पहले से ही पुजारी का ध्यान प्रसाद में रहा तो पूजा भी ठीक तरह से नहीं होती और प्रसाद भी नहीं मिलता। केवल ग्लानि, निराशा और खिन्नता ही पल्ले पड़ती हैं। निरपेक्ष सेवा अपने सेव्य पर किसी भी प्रकार की जबरदस्ती करना नहीं चाहती। वह अपना मूल्यवान उपदेश सुनाने के लिए भी बल-प्रयोग नहीं करती। "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" यह उपभोग का स्वर्ण-नियम है। जिसका उपभोग करना हो पहले उसका त्याग करो। उसे पूरी छुट्टी, पूर्ण स्वतन्त्रता दो। सच्चा प्रेम बदले की अपेक्षा नहीं रखता। अतः उसे कभी निराश नहीं होना पड़ता। उसे तो आनन्द ही आनन्द लूटने का लाभ मिलता है।

हम तोते से प्रेम करते हैं। उसकी सेवा भी करते हैं। लेकिन इसके लिए उसे पकड़ कर पिंजड़े में बन्द रखते हैं। जो हालत तोते की है

वहां हम सेव्य इष्टमित्रों की कर देते हैं। सेवा के ऊपर सत्ता की कीट चढ़ती है।

(४) *स्वार्थ*—सेवा के मार्ग में यह एक बहुत बड़ा दुष्ट लुटेरा है। कई सार्वजनिक कार्य-कर्त्ताओं के खाने के दांत और दिखाने के दांत और होते हैं। यह बात नहीं है कि स्थानिक संस्था या धारा-सभा के चुनाव लड़ने और उसमें पैसा ख़र्च करने में केवल महत्वाकांक्षा या प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करने की ईर्ष्या ही रहती है। बल्कि वह अपनी पूँजी खपाने का भी एक प्रकार हो सकता है। कहते हैं कि इनमें जो कुछ ख़र्चा होता है उसके व्याज की वसूली का यह एक प्रकार है। कुछ कार्य-कर्त्ता अपनी संस्था के उत्कर्ष के लिए चिन्त्य व अनुचित जैसे दिखाई देने वाले कार्य भी संस्था के खातिर करने की तैयारी दिखाते हैं। किन्तु उनकी यह तैयारी अपनी '*संस्था*' के लिए नहीं, '*अपनी*' *संस्था* के लिए—जिस पर कि उनका कब्जा है, जो उनको वेतन, सुख-सुविधा, प्रतिष्ठा और जरिया सब कुछ देती है उसके लिए होती है। जो अपनी संस्था की निरपेक्ष सेवा करना चाहता है वह अपनी संस्था के लिए चाहे जैसे व सदोष काम करने के लिए कभी तैयार न होगा।

सेवा और अनासक्ति—निष्काम, निरपेक्ष, निःस्वार्थ अनासक्त, ईश्वरार्पण ये सब एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न नाम हैं। गीता सिखाती है कि 'निष्काम' या 'अनासक्त' बुद्धि से कर्म करो। लोकमान्य तिलक ने 'कर्म-योग' के नाम से उसका विवेचन किया है। निरपेक्ष सेवा व कर्म-योग अथवा अनासक्ति योग ये भिन्न-भिन्न नहीं हैं। कोई भी कार्य हो हम उसे इसी कर्तव्य-बुद्धि से करें कि यह मूलतः इष्ट व आवश्यक है, अपने सुख, धन, प्रतिष्ठा, सत्ता अथवा किसी अन्य लाभ के लिए नहीं। इसी का नाम निरपेक्ष कर्म व इसी का नाम निष्काम सेवा है। ऐसी निरपेक्ष सेवा में—"फलां तजवीज किया हुआ काम पूरा होना ही चाहिये या मेरे द्वारा होना चाहिए", इस प्रकारका आग्रह

नहीं होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि सेवक कभी अपने अंगीकृत काम की सिद्धि के लिए मूलतः सदोष और अनुचित काम करने को तैयार नहीं होगा; स्तुत्य साध्य के लिए निंद्य साधनों का उपयोग नहीं करेगा। जहाँ येन केन प्रकारेण कार्य साधने की दौड़-धूप दिखाई दे, वहाँ यह शंका करने में हर्ज नहीं है कि कार्य-कर्त्ता के उद्देश्य में ही कुछ न कुछ दोष अवश्य है।

अमेरिकन महात्मा अब्राहम लिंकन का यह वचन बहुत मननीय है:—"विजय की जिम्मेदारी मेरी नहीं, अलबत्ते सचाई की जरूर है। मैं सफलता पाने के लिए बाध्य नहीं हूँ। जो प्रकाश मुझे मिला है उसके अनुसार कदम रखने के लिए अलबत्ते बँधा हुआ हूँ।"

सेवावृत्ति पर जंग चढ़ना—यदि यह ठीक भी हो कि सेवा की आड़ में प्रतिष्ठा, सत्ता, स्वार्थ ही बहुत कर अपना जोर जमाते रहते हैं, फिर भी कहने का हेतु यह नहीं कि मनुष्य सदा ही सत्ता या स्वार्थ का उद्देश्य अपनी दृष्टि में स्पष्ट-रूप से रख कर उसकी पूर्ति के लिए सेवा का सिर्फ बहाना करता है। प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति तो यह है कि मनुष्य मिश्र हेतु से कार्य में प्रवृत्त होता है। सेवा की भी छटपटाहट होती है और उसके साथ ही सत्ता, कीर्ति और स्वार्थ से भी विरक्ति नहीं होती। बात यह है कि मनुष्य को अपने मन की पूरी पहिचान ही नहीं होती है। ऐसा भी हो सकता है कि मूलतः कार्य हार्दिकता से शुरू हुआ हो। परन्तु सच्ची भावना रखने वाले सेवक के पास कीर्ति, सत्ता, सुख, सुविधा अपने आप चल कर आ जाती है। और जहाँ एक बार उनकी आदत पड़ी कि फिर उनके लिए मन में आसक्ति हो जाती है। फिर यह आसक्ति असली कार्यासक्ति का स्थान धीरे-धीरे छीनने लगती है। प्रारम्भिक निरपेक्ष कृति ढीली पड़ने लगती है और कार्य के लिए प्रतिष्ठा के चल कर आने की जगह अब प्रतिष्ठा के लिए कार्य करने की प्रवृत्ति हो जाती है। आदि शंकराचार्य अत्यन्त वैराग्यशील थे। इसीलिए उनके मठों को बड़ी-बड़ी देनें मिलीं। अब

उस सम्पत्ति की देख-भाल रखने के लिए किसी न किसी को शंकराचार्य बनाना ही पड़ता है। और ये बनावटी शंकराचार्य उस सम्पत्ति की रक्षा के लिए मुकदमाबाजी करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं।

(५) पादरी वृत्ति—यह भी नकली सेवा का ही एक प्रकार है। ईसाई पादरियों की स्वधर्मनिष्ठा व स्वधर्म-प्रसार की उत्कटता वास्तव में प्रशंसनीय है। विरोध और उपहास से ही नहीं प्राण-संकट इत्यादि की भी परवाह न करके अपना पवित्र कर्तव्य दृढ़ निश्चय से चलाने की उनकी कार्य-पद्धति किसी के भी मन में अत्यन्त आदर ही उत्पन्न करती है। धर्म-प्रचार के साथ ही साथ शिक्षा, अस्पताल, दलित, सेवा-जैसे विविध कार्य बड़ी कुशलता से वे जगह-जगह करते रहते हैं। लेकिन उनकी इस सेवा के मूल में वैयक्तिक स्वार्थ अथवा सत्ता, प्रतिष्ठा, लोभ चाहे न हो, फिर भी धर्म-प्रचार करने का आध्यात्मिक लोभ अवश्य होता है, जिससे धर्म-प्रचार तो होता ही नहीं, बल्कि सेवा-कार्य में भी कमी आ जाती है। उपकार व आभार के बल पर धर्म का प्रचार करना मानों धर्म का अपमान करना है; मानो यह मान लेना है कि धर्म खुद अपने बल पर किसी के गले नहीं उतारा जा सकता। जो स्वतः जँचता न हो, किन्तु दूसरे के लिहाज़-मुलाहिजे से स्वीकार किया जाता हो, उसे धर्म कैसे कहेंगे? दूसरों की मुरव्वत या प्रभाव से धर्म-प्रचार संभव भी कैसे है?

यही कारण है कि जो धर्म-प्रचारक हैं उनके हेतु के विषय में शंका उत्पन्न होती है। धर्म-प्रचार के नाम पर पक्ष-प्रचार, अपने दल में एक-एक नये व्यक्ति को शामिल करना यही तो इसका उद्देश नहीं है?

हमने यहाँ केवल ईसाई पादरियों का ही उदाहरण दिया है। किन्तु वह इस्लाम-प्रचारकों और हिन्दुओं के शुद्धि-प्रचारकों पर भी उसी तरह लागू होता है।

(६) *भिन्न हेतु*—यह बात नहीं है कि यह पादरी वृत्ति धर्म-प्रचार में ही दिखाई देती है। वह तो राजनीतिक, सामाजिक, इत्यादि हर तरह के प्रचार-कार्य में दिखाई देती है। उदाहरणार्थ—मेरी पार्टी मजबूत हो, अछूत लोग उसमें अधिकाधिक सहयोग करें, इस हेतु से अस्पृश्यता-निवारण, चरखा-प्रचार अथवा संकट-निवारण के काम करना अप्रामाणिकता है। चरखा-प्रचार के लिए अस्पृश्यता-निवारण अथवा अस्पृश्यता-निवारण के लिए चरखा-प्रचार भी उतना ही अनुचित है। लोगों पर अपना प्रभाव पड़े और उनमें रचनात्मक कार्यक्रम का प्रचार करना सुलभ हो, इस उद्देश से कांग्रेस में या कानून-भंग में सम्मिलित होना भी धोकेबाजी ही है। उससे ऐसी स्थिति हो जाती है कि न घर के रहे न घाट के।

(७) *ढोंग*—इसी वृत्ति का एक और स्वरूप है; जैसे—लोगों को अपनी ओर, अपने कार्य की ओर आकर्षित करने के लिए ज्योतिष का सहारा लेना, मंत्र-तंत्र करना, दाढ़ी-जटा बढ़ाना, गेरुए वस्त्र और आजकल सफेद खादी पहनना आदि पाखंड-रचना है। हमारे एक भावुक मित्र ने 'ग्रामसेवक कैसा हो' यह बताने के सिलसिले में सच्चे दिल से कहा था कि उसे ज्योतिष सीख लेना चाहिए जिससे कि वह सब लोगों के लिए उपयोगी होकर उनके मन पर प्रभाव डाल सके।

पैसे के लिए जैसा लोभ होता है और उसके लिए मनुष्य अनेक प्रकार के नाटक करता है उसी प्रकार सेवा-कार्य के लिए व्यर्थ की आसक्ति का मतलब भी स्वार्थ ही है। उसकी सिद्धि के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के दिखावे करने को प्रवृत्त हो जाता है। यह सेवा-कार्य-सम्बन्धी स्वार्थ जब कर्तव्य-निष्ठा का रूप धारण कर लेता है तब तो वह और भी भयंकर हो जाता है। "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।" यदि सत्य का मुख सोने के वर्कों से ढक दिया जाय तो फिर उसका यथार्थ ज्ञान होना और भी कठिन हो जाता है।

किसी विशिष्ट सत्कार्य के लिए धन संग्रह करने को लॉटरी खोलना अथवा धर्मार्थ नाटक करना और उसके टिकिट जबरदस्ती गले मढ़ना, लोक-शिक्षा के उद्देश से निकाले हुए समाचार-पत्रों को चलाते रहने के लिए अश्लील भद्दे विज्ञापन प्राप्त करना इस प्रकार के अनेक अकार्य सत्कार्यों की सिद्धि के लिए चलते हुए दिखाई देते हैं। किन्तु उनको ढोंग कहने की अपेक्षा भूल कहना ही अधिक ठीक दिखाई देता है। क्योंकि वे अकार्य खुद ही सेवाकार्य होने का बहाना नहीं करते। उन्हें नकली सेवा के प्रकार कहने की अपेक्षा यह कहना ठीक होगा कि वे सेवा-कार्य के गड्ढे हैं। उनका विचार एक अलग प्रकरण में करना ही उचित होगा।

७

सेवा-मार्ग के खाँई-खड्डे

(१) अभिनिवेश अथवा भूतवृत्ति :—

यत्र कृत्स्नवदे कस्मिन कार्येसक्तमहैतुकम ।
अतत्त्वार्थ वदल्पं च तत्तामससमुदाहृतम् ॥

(गीता १८–२२)

जो ज्ञान यथार्थ वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर व बिना प्रयोजन इस प्रकार के विचार से कि—'यह कार्य मानों मेरा सर्वस्व ही है'—किसी एकाध काम में आसक्त हो जाता है वह तामस ज्ञान है ।

किसी एक ही कार्य को सीमा से अधिक महत्व देने का दोष स्वार्थ के कारण भी हो सकता है । किन्तु यह अधिक संभव है कि वह मन्द-बुद्धि का ही परिणाम हो । कोई विशेष कार्य अपने ऊपर लेकर दिन-रात उसी का चिन्तन करने और उसी की सफलता के लिए प्रयत्न करने में यदि मनुष्य की शक्ति लग गई तो फिर उसे उस एक ही काम का ध्यान रहने लगता है, उसका अत्यधिक महत्व मालूम होने लगता है तथा अन्य बातें कम महत्व की मालूम होने लगती हैं । जो उसके काम में मदद करता है या धन देता है वही काम का और सच्चा व्यक्ति बाकी सब ढोंगी, स्वार्थी या लापरवाह हैं, ऐसा उसे मालूम होने लगता है । उसकी दृष्टि की व्यापकता और तारतम्य नष्ट हो जाता है । मन की उदारता और खिलाड़ीपन नष्ट होकर उसमें कुढ़ने की आदत पड़ जाती है । उस काम के लिए एक प्रकार की ईर्षा उत्पन्न हो जाती है । कार्य में बाधा आई कि वह बेचैन हो जाता है । वह चाहता है कि

किसी भी प्रकार हो, काम को सफल बना ही लेना चाहिए। उसके लिए वह अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है। और मौके पर अपकृत्य करने को भी तैयार हो जाता है।

यह कार्यासक्ति एक दृष्टि से सचमुच प्रशंसनीय है। यह सच है कि जिन-जिन अनुसंधानकर्ताओं ने आज तक महत्वपूर्ण अनुसंधान किये हैं उन सब ने अपना सर्वस्व एक जुआरी की भाँति दाँव पर लगा दिया था। तभी वे सफलता प्राप्त कर सके हैं। परन्तु दूसरी दृष्टि से यह मन की कमजोरी भी है। उसमें से असहिष्णुता, दूसरे आवश्यक या इष्ट कार्यों के लिए अनास्था तथा कभी-कभी संताप और निराशा भी उत्पन्न होती है।

(२) *निराशा*:—सेवामार्ग में यह एक विशेष रूप से सावधान रहने योग्य ख़तरा है। कितने ही भावुक सेवक विशेष कामों के लिए अपने प्रयत्न की हद्द कर देते हैं। इतना करके भी लोगों की निष्क्रिय उदासीनता से, सक्रिय विरोध से, या किसी की स्वार्थ-साधुता से कार्य में असफल हो गया तो उसकी हिम्मत टूट जाती है। और वह निराशावादी बन जाता है। बल्कि जब कोई नवीन योजना लेकर नये उत्साह से काम करने के लिए आगे बढ़ता है तो उसे भी निराश करने की वृत्ति हो जाती है। वह अपने अपयश का ठीकरा दूसरों के सिर पर फोड़ने का प्रयत्न करता है। मेरा स्वार्थ-त्याग व्यर्थ गया, इस कसक से व उसकी हानि की पूर्ति के लिए वह आगे और भी स्वार्थी बन सकता है। इस प्रकार के योग-भ्रष्ट सेवक बहुत ही घातक सिद्ध होते हैं। अतः नवीन सेवकों को इस बात की अवश्य सावधानी रखनी चाहिए कि कहीं उन्हें भी इन लोगों की श्रेणी में न बैठना पड़े। जितना अपने से हो सके उतना ही काम और उतना ही स्वार्थ-त्याग करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में शुद्ध उदारता अथवा निष्ठा हमारे लिए महत्व की बात है। वह हो तो फिर कठिनाई के साथ-साथ उसका सामना करने की भी शक्ति बढ़ती जाती है। किसी भी कार्य की सफलता केवल

कर्त्ता की छटपटाहट या कार्य-कुशलता पर ही निर्भर नहीं रहती। उस कार्य का समय आ जाना चाहिए। परिस्थिति की अनुकूलता, अनेक लोगों का सहयोग, आदि बातों के बिना कोई भी आन्दोलन सफल नहीं होता। अतः समझदार सेवक असफलता से निराश न होकर अपने प्रयत्न में अधिकाधिक व्यापकता व सूक्ष्मता लाता है।

गुस्सेबाजी या चिड़चिड़ापन भी उसी प्रकार का किन्तु क्षणिक खतरा है। काम करने वाला व्यक्ति अनेक बार क्रोधित हो जाता है। इसका कारण यही है कि उस काम का भार उसे सहन नहीं होता। किन्तु जब यह ध्यान में आ जाता है कि गुस्सेबाजी का कारण हमारी कमजोरी--अल्पबलता--ही है, यह संसार का दोष नहीं है, तब इस भान से ही उस कष्ट को सहन करने की शक्ति सेवक में बढ़ जाती है। जितना बने उतना ही काम अंगीकार किया जाय, यह भी दूसरा उपाय है। क्रोध व चिड़चिड़ाहट में अधिक काम करने की अपेक्षा प्रसन्न मुख से कम काम करना अपने लिए और संसार के लिए भी अच्छा है। "मैं इतने कष्ट से काम करता हूँ किन्तु क्या लोग उसकी कद्र भी करते हैं?"—इस प्रकार की वृत्ति सेवक को शोभा नहीं देती। उसे अपने ही प्रति असन्तोष अनुभव करना चाहिए। "अब तक मुझमें जो आलस्य, उपेक्षा, लापरवाही इत्यादि हैं उन्हें नष्ट करके मुझे अधिकाधिक तत्पर बनना चाहिए। "मैंने अभी तक अपने अंगीकृत कार्य के लिए जितनी चाहिए उतनी मेहनत नहीं की है। अब आगे क्या करें?—" जब तक उसके मन में इस प्रकार का विश्लेषण होता रहेगा तब तक उसकी प्रगति होती रहेगी। जब वह दूसरों के दोष निकालने लगे तो समझो कि अब उसकी पुच्छ-प्रगति आरम्भ हो गई है।

(३) *साध्य और साधन*—कार्यकर्ता को अपने उद्देश्य की सफलता के लिए हर तरह के भले-बुरे उपाय करने का मोह होता है। वह कहता है—"जो कुछ कार्य मैं करता हूँ वह नैतिक है या अनैतिक है, हितकर है या अहितकर है—यह सब मेरे हेतु पर अवलम्बित है।

मारपीट में यदि एक ने दूसरे का हाथ काट डाला तो वह अपराध होगा; किन्तु डाक्टर ने रोगी के प्राण बचाने के लिए जख्मी हाथ काट डाला तो वह सत्कृत्य कहा जायगा। बाह्यतः एक जैसे दिखाई देनें वाले कामों में ही एक कर्त्ता के उद्देश्य अनुसार नैतिक कहलायेगा तो दूसरे के अनुसार अनैतिक कहा जायगा।

"अतः हमारा ध्येय या साध्य अच्छा है तो उसकी सफलता के लिए समय पड़ने पर व आरम्भ में बुरे दिखाई देनें वाले काम भी करना पड़े तो उसमें कोई बुराई नहीं है। उदाहरणार्थ—मुझे इस बात का विश्वास है कि अमुक व्यक्ति नें अमुक अपराध किया है। उस अपराध के लिए उसे दण्ड मिलना भी आवश्यक है; अन्यथा वह अधिक सिर-जोर होकर लोगों को अधिकाधिक सतानें लगेगा। किन्तु आँख से देख लेनें वाला व्यक्ति भी उस गुण्डे की धाक से कोर्ट में गवाही देने की हिम्मत न करेगा। ऐसी स्थिति में झूठे गवाह तैयार करके उनके मुँह से कोर्ट में सच्ची गवाही दिलाना क्या हमारा कर्त्तव्य नहीं है ? मैंने यद्यपि असत्य बात कराई तो भी वह है तो सत्य की ही स्थापना के लिए। ऐसा करनें में मेरा कोई व्यक्तिगत हानि-लाभ नहीं है। बल्कि केवल यही उद्देश्य है कि दुष्ट को उचित दण्ड मिले और उसके द्वारा लोगों को स्वास्थ्य-लाभ हो। जैसे के साथ तैसा होना ही पड़ता है। तभी वह सीधे रास्ते पर आता है। काँटे से ही काँटा निकाला जाता है। ज़हर खा लेनें पर ज़हर को ही औषध रूप में देना पड़ता है। उसी प्रकार महज सीधे ढंग से दुष्टों का प्रबन्ध नहीं हो सकता। 'शठं प्रति शाठ्यं' ही होना चाहिए।

"जिस प्रकार बदमाश को चकमा देना आवश्यक है उसी भाँति गँवार को भी, जो समझाने से भी नहीं समझता, उसके तथा समाज के दोनों के ही लाभ के लिए झाँसा दिये बिना गति नहीं है। अथवा मौके-मौके पर डराना-धमकाना भी पड़ता है।

"सारांश यह कि अपना ध्येय अथवा साध्य निःस्वार्थ और अच्छा होना चाहिए। उसकी सफलता के लिए जो-जो भी उपाय करने पड़ें उससे कार्यकर्त्ता को झिझकना नहीं चाहिए। यदि झिझका तो वह तत्व-निष्ठा नहीं, मन की कमजोरी होगी।"

उपर्युक्त "अनुभवसिद्ध और मार्मिक" विचार-प्रणाली समाज में बहुत-कुछ प्रचलित है और वह नित्य कार्य-रूप में परिणत होती रहती है और The way to hell is paved with good intentions. "नरक के मार्ग पर सदिच्छाओं की फर्शियाँ लगी हुई हैं"—इस कहावत के अनुसार संसार में बहुत से अनर्थ और उत्पात सद्हेतु से ही होते रहते हैं।

परन्तु जब साध्य और साधन का हम सांगोपांग विचार करेंगे तो हमें मालूम हो जायगा कि प्रथम दृष्टिपात में दिखाई देने वाली इनकी भिन्नता वास्तव में नहीं है। मान लो कि शरीर से पसीना निकालना मेरा साध्य है। यह साध्य भिन्न-भिन्न उपायों से साधा जा सकता है। (१) व्यायाम करने से, (२) मेहनत का काम करने से, (३) आग तापने या सेंकने से, (४) बिच्छू के काटने से, (५) घबरा जाने से, (६) पसीने की दवा लेने से। किन्तु इनमें से जिन साधनों का हम उपयोग करेंगे उसी के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के साध्य हमारे पल्ले पड़ेंगे। पहिले दो साधन स्वास्थ्य-कारक हैं। बाद के दो अनिष्ट परिणाम उत्पन्न करने वाले हैं और छठे का इष्ट अथवा अनिष्ट परिणाम होना मेरी तात्कालिक प्रगति की विशिष्ट अवस्था पर व औषधि के प्रकार पर अवलम्बित रहेगा।

"शरीर से पसीना निकालना ही मेरा ध्येय है, इसके सिवाय मुझे किसी बात से मतलब नहीं"—इस प्रकार की स्थिति हमारी कभी नहीं होती। वह मेरा तात्कालिक ध्येय है। वह तो मुझे उसके आगे के श्रेष्ठ ध्येय—यहाँ पर आरोग्य—के साधन के लिए ही चाहिए। फिर आरोग्य भी परम साध्य नहीं है। सुख और समाजोपयोगी जीवन के साधन रूप

में ही मुझे आरोग्य की भी आवश्यकता है। श्रेष्ठ जीवन साध्य और आरोग्य उसका साधन; आरोग्य दूसरे नम्बर का साध्य, उसके लिए पसीना लाना उसका साधन; फिर पसीना लाना तीसरे नम्बर का साध्य और व्यायाम करना उसका साधन। व्यायाम भी फिर चौथे नम्बर का साध्य बनेगा और मलखम्ब, क्रिकेट, खोखो, आदि साधन बनेंगे। इस प्रकार की यह साधन-साध्य-परम्परा ऊपर और नीचे फैली हुई है। 'केवल पसीना ही लाने के लिए' जितना व्यायाम उपयोगी होगा उतना ही बिच्छू भी; किन्तु आरोग्य के हेतु पसीना निकालने के लिए बिच्छू बाधक ही साबित होगा। यदि "समाजोपयोगी जीवन के लिए आरोग्य और उसके लिए पसीना लाना' साध्य होगा तो कसरत की अपेक्षा उपयोगी श्रम अधिक श्रेयस्कर सिद्ध होगा।

इस प्रकार किसी भी ध्येय की प्राप्ति के लिए साधन-योजना करते समय आगे-पीछे का विचार करना आवश्यक है। तात्कालिक ध्येय के परे, उसी तरह दाँई-बाँई तरफ भी दृष्टि डालनी पड़ती है। फिर इस विशिष्ट अभीष्ट को साधते हुए और भी दूसरे अवान्तर अभीष्ट सध सकें तो साध लूँ और अनिष्ट टल सके तो टालूँ, यह भी मेरी निगाह में रहता है। यदि बालक को गणित सिखाने के लिए मास्टर रखना है तो कैसा मास्टर रखना चाहिए, वह ऐसा हो जो गणित के साथ ही उसे व्यवहार-शिक्षा भी दे सके और बीड़ी-तम्बाकू आदि की आदतें न डलवा दे।

सारांश यह कि साधन-साध्य-परम्परा नदी के प्रवाह की भाँति है। प्रवाह के आगे का जो भाग है वह साध्य और पीछे का भाग साधन है। पीछे का ही पानी तो बहकर आगे जाता है। जिस प्रकार पीछे का प्रवाह मटमैला हो जाने से वह दोष आगे पहुँच जाता है उसी प्रकार बुरे साधन से अच्छा साध्य प्राप्त होना असम्भव है।

आइए, अब झूठे गवाहों के द्वारा सच्ची बात सिद्ध करने के दृष्टान्त पर विचार करें। सबूत के लिए सच्चे गवाहों को ही उनके

दमन-नीति अंगीकार करके उसने भूल से ही शुरूआत की और वह साधनों का स्वामी न रह कर उनका शिकार बन गया।

इससे शिक्षा ग्रहण करके सेवक को साधनों के चुनाव में सावधान रहना चाहिए। साध्य जिस प्रकार हमसे बहुधा दूरी पर होता है उसी प्रकार अनिश्चित, संदिग्ध और अमूर्त भी होता है। एक साधन ही निश्चित, स्पष्ट तथा हमारे हाथ में रहता है। उसे हमने शुद्ध रखा तो हम विश्वास रख सकते हैं कि हमारा भावी साध्य भी हमें उसी के अनुरूप तथा योग्य ही प्राप्त होगा।

कई लोग कहते हैं कि "हम सब भारतवासियों का ध्येय स्वराज्य है फिर वे चाहे कांग्रेसी हों, हिन्दू सभा वाले हों, सोशलिस्ट हों, कम्यूनिस्ट या क्रान्तिकारी हों; मार्ग भिन्न-भिन्न भले ही हों, किन्तु ध्येय एक ही है।" लेकिन यह भ्रम है। प्रत्येक पक्ष की अपनी स्वराज्य की कल्पना ही भिन्न-भिन्न है। और उसके कल्पनागत स्वराज्य के लिए उसके द्वारा निश्चित एक ही रास्ता है। अतः प्रत्येक पक्ष डंके की चोट से प्रतिपादित करता है कि—"एष पन्थाः, एतत्कर्म; नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।"—बस यही मार्ग, यही कार्यक्रम है; इसके अतिरिक्त ध्येय के पास पहुँचने का दूसरा रास्ता ही नहीं है।

साध्य और साधन की पृथकता का यह जो भ्रम उत्पन्न होता है उसके लिए साध्य-विषयक संकुचित दृष्टि, किसी विशेष कार्य के प्रति उत्कटता और परिणाम जल्दी निकालने की अधीरता ये कारणीभूत होते हैं। तारतम्य, दीर्घ-दृष्टि, योजकता, सावधानी, व धैर्य प्राप्त कर लेने पर कार्य-कर्त्ता अण्ट-शण्ट साधन काम में लाने के मोह में नहीं पड़ता।

(४) *धन-संग्रह के लिए लाटरी*—किसी भी कार्य के लिए धन-संग्रह की जरूरत रहती ही है। अतः चन्दा जमा करना सार्वजनिक कार्यकर्त्ता का एक दैनिक तथा विकट काम बन जाता है। धन-संग्रह कैसे करना चाहिए, इस सम्बन्ध में आगे कहा जायगा। अभी तो उसे

किस प्रकार इकट्ठा नहीं करना चाहिए, इस सम्बन्ध में ही कुछ नियम मोटे तौर पर बताने का विचार है।

बंगाल में क्रान्तिकारी लोग निधि-संग्रह के अत्यन्त कार्यकारी साधन के तौर पर डाके डालते थे। डाके के साथ ही मारपीट, खून आदि भी करने ही पड़ते हैं। यह पन्थ आज भी कहीं-कहीं चलता दिखाई देता है। यह कहना कठिन है कि यह सेवा-कार्य के लिए डाके डालना है या डाकूपन छिपाने के लिए सेवा कार्य करना है। सचमुच ही यदि कोई सेवा-कार्य के लिए डाका डालता है तो युक्तिवाद से उसका मत बदल देने की हममें शक्ति ही नहीं है।

धन-प्राप्ति के लिए लाटरी खोलने का मोह अधिक सौम्य किन्तु उसी जाति का है। इसमें डाके की जगह झाँसा—झूठा लालच दिया जाता है, दोनों में इतना ही अन्तर है। कहते हैं कि गोआ (दक्षिण) में एक धर्मार्थ अस्पताल लाटरी की आय पर चलता है। युद्धकाल में वार फण्ड के लिए लाटरी खोलने का फैशन ही चल गया था।

रोगी-सेवा इष्ट वस्तु है। यदि गरीबों के लाभ के लिए दवाखाना खोलना तय हो तो सरकार उन्हें चलावे या धनिक लोग उसके लिए कार्य-प्रेम से धन प्रदान करें—लाटरी में बिना कष्ट के धन कमाने के अन्यायमूलक व मूर्खतापूर्ण लोभ से नहीं। गरीब लोग भी जब लोभ-वश अपनी थोड़ी कमाई में से लाटरी के लिए टिकिट खरीद सकते हैं तो फिर उन्हें भी दवाखाने जैसे सत्कार्य में सीधी ही मदद क्यों न करनी चाहिए। यह ठीक है कि ऐसे छोटे-छोटे दान प्राप्त करने के लिए दवाखाने के संचालकों को दौड़-धूप करनी पड़ेगी; दवाखाने की सुव्यवस्था के सम्बन्ध में समाज का समाधान करना पड़ेगा और जितना दान मिलेगा उसी के अनुसार कार्य का विस्तार करना पड़ेगा। लाटरी में यह सब मुसीबत बच जाती है। दवाखाने में पाँच-पचास बीमार चंगे होते हैं किन्तु उसके लिए असंख्य हट्टे-कट्टे लोगों को पुरुषार्थ-हीन बनाने में क्या लाभ ? बिना परिश्रम के लाटरी से पैसा प्राप्त करने की

इच्छा रखना एक हीन-वृत्ति है। उससे समाज की पुरुषार्थ-वृत्ति नष्ट होती है और दुर्बलता बढ़ती है। अतः लाटरी से अस्पताल चलाना मानो सर्दी में तापने के लिए नोट जलाना है।

(५) *निधि-याचना के एवज में धंधा*—बहुत से सार्वजनिक कार्यकर्त्ता लोगों के दरवाजे खटखटाने और उनके तरह-तरह के उत्तर से परीशान होकर स्वावलम्बन का उपाय ढूँढ़ते हैं अर्थात् ऐसा विचार करते हैं कि हम ही कोई एजेंसी ले लें अथवा उसी प्रकार का कोई कम परिश्रम से बहुत आय वाला धन्धा करने लगें व उसके मुनाफे से सेवा-कार्य चलावें। इसमें लाटरी की भाँति लोगों को दैववाद की शिक्षा देने की आपत्ति उपस्थित नहीं होती लेकिन फिर भी थोड़े श्रम से बहुत कमाने की दृष्टि तो रहती ही है। ऐसा न हो तो भी कार्यकर्ता की बहुत सी शक्ति धंधों में खर्च हो जायगी व सेवा-कार्य के लिए कुछ भी बच न रहेगा। परन्तु थोड़े श्रम से बहुत आय वाले धंधे बहुधा स्पर्धापूर्ण और कई बार तो धोखाधड़ी वाले भी होते हैं। समाज-सेवक के लिए पहिले तो स्पर्धा में उतरना ही ठीक नहीं है फिर झूट का आश्रय लेना तो खास तौर पर निषिद्ध है।

यदि कोई तीसरा व्यक्ति किसी प्रामाणिक उद्योग को ईमानदारी के साथ करके उसकी आमदनी या मुनाफा सार्वजनिक सेवा-कार्य में लगाये तो वह स्तुत्य ही है। परन्तु सेवा-कार्य में लगे हुए सेवक के लिए अपनी सारी अथवा कुछ शक्ति सेवा-कार्य में से निकाल कर धन्धे में लगाना प्रशस्त नहीं है। धन से तन-मन श्रेष्ठ है। सेवक कार्य के लिए तन-मन देता है। किन्तु उसकी जगह वही तन-मन धन्धे में लगाकर उसके बदले धन्धे से धन लेना कार्य की दृष्टि से भीतरी घटी का सौदा है। यदि वह धन्धा ही सेवा-कार्य का पोषक है तो सेवा-कार्य ही मानकर वह धंधा अवश्य करना चाहिए। उदाहरणार्थ—राष्ट्रीय साहित्य बेचना। इससे पैसा जरूर मिलेगा, लेकिन वह मूलतः ही सेवा-कार्य है। उसे करने में कोई हानि नहीं। उससे प्राप्त धन को अपने

भरण-पोषण में लगाना भी बुरा नहीं। यदि उसे उसकी आवश्यकता न हो तो उसे चाहिए कि वह सबसे पहिले उसे राष्ट्रीय साहित्य-प्रचार के अर्पण कर दे; एक सेवा-कार्य की कमाई दूसरे सेवा-कार्य में खर्च करना उचित नहीं। जिस काम की कमाई उसी में खर्च करना सम्भव ही न हो तो फिर बात दूसरी है।

सेवक के पास स्वयं का धन और उस धन के बल पर इष्ट कार्य करने की सत्ता होनी ही न चाहिए। किसी विशेष कार्य के लिए दान देना सत्ता जमाने का ही एक प्रकार है। सेवक के लिए यह कुपथ्य है। सेवक को निरहंकारी और निराग्रही होना चाहिए। उसे अपना उद्देश्य समाज के सामने रख देना चाहिए। उसे समझा देना चाहिए समाज जितनी मंजूर करे उतनी ही रकम इष्ट काम में खर्च करनी चाहिए।

जो न्याय सेवक के लिए है वही सार्वजनिक संस्था पर भी लागू होता है। ऐसी संस्था को भी अपने खर्च के लिए धंधा नहीं करना चाहिए। बहुत से लोगों को यह भी प्रतीत होना सम्भव है कि जब हमें अनायास ही अथवा थोड़े परिश्रम से ही द्रव्योपार्जन का साधन उपलब्ध है तो उसे हाथ से गँवा देना लापरवाही ही है। जैसे खादी-संघ या दलित सेवा-संघ जैसी कोई संस्था है। फर्ज कीजिए कि उसके बहुत से सदस्य अपने जीवन का बीमा कराते हैं और उनकी पालिसी पर अनेक कमीशन एजेंटों को कितना ही कमीशन मिलता है। इसकी अपेक्षा यदि संघ के नाम से किसी अच्छी सी बीमा कम्पनी की एजेंसी ले ली और संघ के सदस्यों से प्रार्थना की कि वे उस संघ की एजेंसी के ही द्वारा बीमा करवायें तो उन्हें वह मान लेने में कोई आपत्ति न होगी। संस्था को कमीशन के रूप में अनायास ही बहुत सा धन मिल सकेगा और फण्ड के लिए लोगों से प्रार्थना करने के प्रसंग भी उसी मात्रा में कम हो जायँगे।

संस्था-चालकों के मन में इस प्रकार के विचार उठना संभव है। इसलिए इस विचार-धारा की छान-बीन कर लेना यहाँ आवश्यक है।

इस प्रकार के सस्ते मार्ग ही परिणाम में अत्यन्त विकट सिद्ध होते हैं। पास का टेढ़ा रास्ता अन्त में बहुत दूर का सिद्ध होता है। उपर्युक्त उदाहरण में 'अच्छी-सी' बीमा कम्पनी का चुनाव कैसे किया जाय? संस्था यदि छोटी सी हो; दो-चार प्रमुख व्यक्तियों के बल पर चलने वाली तथा ऐसी हुई जो बहुत से लोगों को अपनी ओर आकर्षित न कर सकी हो, तब तक तो चुनाव कैसा भी हुआ हो उसका हो-हल्ला नहीं होगा लेकिन संचालक ऐसा तो नहीं चाहते कि हमारी संस्था ऐसी ही कुण्ठित बनी रहे। उनकी दृष्टि तो यही होनी चाहिए कि वह सच-मुच में एक सार्वजनिक संस्था हो जाय और उसका रूप छोटा होने पर भी वह उसी विशाल दृष्टि से चलनी चाहिए। फिर हमारी संस्था के सदस्यों में ही भिन्न-भिन्न बीमा कम्पनियों के संचालक हों तो ('हों' ऐसी हमारी दृष्टि होते हुए) एक विशेष कम्पनी को मान्यता देना कठिन तो है ही; लेकिन यही बात झगड़े की जड़ बन जायगी। इसकी अपेक्षा तो हमें यह दृष्टि रखनी चाहिए कि सभी अच्छी बुरी कम्पनियाँ और उन कम्पनियों के छोटे-बड़े सभी एजेण्ट हमारे ही हैं। यद्यपि आज वे हमारे सभासद नहीं हैं तो भी भावी सदस्य हैं; निदान दान-दाता हैं। उनके उपार्जित द्रव्य का उचित अंश संस्था की तिजोरी में—उस संस्था की योग्यता व अपने कार्य की आवश्यकता लोगों को समझा देने की हमारी क्षमता के अनुपात में—अवश्य आ ही जायगा, इस प्रकार का विश्वास संस्था में होना चाहिए। उन्हें तो एक ही बीमा-कम्पनी में राज्य करने के बजाय तमाम बीमा कम्पनियों पर—और केवल बीमा कम्पनियों पर ही नहीं बल्कि संपूर्ण धनोत्पादक उद्योग-धंधों पर और उनके संचालकों पर चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करके कर वसूल करने की महत्वाकांक्षा रखनी चाहिए।

(३) *प्रत्यक्ष सेवा और परोक्ष घात*—"हमारे लोचन दद्दा बहुत ही भले आदमी हैं। बम्बई से दिल्ली रेल में चले तो साथ में अपने दो-चार मित्रों को पहुँचाने के लिए ले जाते हैं। वे मित्र भी मानों उनके

सहयात्री ही हों, इस तरह सब लोग मिल कर डिब्बे में बहुत सी जगह घेर कर बैठ जाते हैं। ठीक गाड़ी छूटने के समय ये आगन्तुक मित्र उतर कर चले जाते हैं; इधर लोचन दद्दा बिस्तरा फैला कर व हाथ-पैर पसार कर उस जगह पर कब्जा कर लेते हैं। अब उस पर बैठने की हिम्मत दूसरे मुसाफ़िरों की नहीं होती। आगे कल्याण स्टेशन पर गाड़ी में भीड़ होती है और पहिले जो लोग अपनी बपौती समझ कर जगह घेरे बैठे रहते हैं उनके कारण इन नये आने वाले व्यक्तियों को जगह मिलना ही कठिन हो जाता है। लेकिन लोचन दद्दा की जान-पहिचान बहुत है। यदि कोई परिचित सज्जन जगह की कमी से परीशान दिखाई देते हैं तो लोचन दद्दा उनको जोर से आवाज देकर बुला लेते हैं और अपने बिछौने पर बिठा लेते हैं। यह बात भी नहीं कि वह व्यक्ति जान-पहिचान का ही हो। कोई भी सज्जन अपने बाल-बच्चों के साथ डब्बे में चढ़ा और उसे बैठने भर की जगह न मिली तो लोचन दद्दा की नजर उधर गई ही समझो और वे अपनी फालतू जगह उन्हें देकर बिठा देते हैं। फिर गाड़ी के चलने पर भोजन का डिब्बा निकालकर इन मेहमानों को और विशेषतः बच्चों को देकर स्वयं भोजन करने लगते हैं। अगले स्टेशन पर बाहर की भीड़ डब्बे में घुस न सके, इसके लिए उनका जी-जान से मुकाबला करने में भी वे कसर नहीं रखते।"

"हमारे रामधन चौधरी भी उदार व परोपकारी पुरुष हो गये हैं। वे डिप्टी कलक्टर के पद तक पहुँच गये थे। उन्होंने अपने विभाग में हमारे प्रान्त के बहुत से लोगों की नौकरी लगवा दी और उनके बाल-बच्चों की दुआ हासिल की। मैट्रिक फेल होने वाले भी कई व्यक्ति आज उनकी कृपा से तहसीलदार तक हो गये हैं।"

इस तरह के गुणानुवाद कई बार सुनने का अवसर आता है और उसे सुन कर श्रोता के मन में भी इच्छा होने लगती है कि हम भी उन्हीं की भाँति बनें और उनका-सा यश प्राप्त करें।

अपनी बड़ी-बड़ी तनख्वाह का, वकालत की बेशुमार आमदनी का और व्यापार के बहुत बड़े लाभ का समर्थन दान-धर्म के नाम से करने की प्रवृत्ति तो सब कहीं है। लेकिन दस को लूटकर किसी एक पर उपकार करना किसी तरह भी डींग हाँकने योग्य नहीं है। दान की अपेक्षा त्याग श्रेष्ठ है।

"*प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्*—कीचड़ लग जाने पर उसे धोने की दौड़-धूप करने की अपेक्षा ऐसी सावधानी रखना कि कीचड़ लगने ही न पाये अच्छा नहीं है?

अन्याय की कमाई का, पाप का धब्बा दान के साबुन से बहुत हुआ तो फीका पड़ जायगा, परन्तु उसका बिल्कुल साफ हो जाना सम्भव ही नहीं है।

उपर्युक्त उदाहरण में लोचन दद्दा दूसरे मुसाफिरों के हिस्से की जगह अपनी हिकमत, प्रभाव, धाक इत्यादि के बल पर दबा कर बैठ गये। उसी प्रकार हमारे एक परोपकारी डिप्टी कलेक्टर ने भी अपने लोगों को जिम्मेदारी की जगह देने के लिए दूसरे योग्य उम्मीदवारों को नुकसान पहुँचाया। इन उदाहरणों में जो अन्याय है वह इतनी तीव्रता से हमारी नजर में नहीं आता। प्रत्यक्ष बात हमारी दृष्टि में आ जाती है किन्तु परोक्ष की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। जितना उपकार है वह तो दिखाई देता है किन्तु उस उपकार के पीछे छिपा हुआ जो दस गुना अपकार है वह नहीं दिखाई देता।

(७) "*जिन्हें बराबर राजा-निर्धन*"—यह हम पहले ही देख चुके हैं कि सेवा का अर्थ है आत्म-विस्तार, सब से पहले पराये लगने वाले लोगों के साथ आत्मौपम्य का, अपनेपन का अनुभव। किन्तु सेवा तो विशेषतः उन्हीं लोगों की करना ठीक है जिन्हें उसकी आवश्यकता है—अर्थात् जो दीन, दुर्बल, दलित, दरिद्री, मूर्ख, अनाथ, पतित एवं रंक हैं। दीन-दुर्बल भी हमारे-जैसे ही आदमी हैं, उन्हें भी आत्मा है, हृदय है, आकांक्षा है, उनके आत्मविश्वास को भी काफी अवसर

मिलना चाहिए ; उनके रूखे-सूखे जीवन में भी ताजगी आनी चाहिये। इन्हीं सबके लिए निःस्वार्थ समाज-सेवक अनेक प्रकार से कष्ट उठाते रहते हैं किन्तु जैसा कि पीछे बताया गया है कि कार्य के विशेष प्रकार में एक प्रकार का अभिनिवेश—राग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार सेव्य के विषय में भी दृष्टि में संकुचितता आ सकती है। दीन-दलितों और भंगियों की झोपड़ी में भी वह ईश्वर वास कर रहा है, इसका साक्षात्कार करते समय यह बात हमारी आँखों से ओझल हो जाती है कि राजा-रजवाड़े तथा आचार्यों के मठों में भी वह परमेश्वर रहता है। यह विश्वास जितना नास्तिकतापूर्ण है कि राजा अथवा ब्राह्मण में ईश्वर है और रंक अथवा चाण्डाल के अन्दर नहीं है उतना ही नास्तिकतापूर्ण यह विश्वास भी है कि ईश्वर गरीबों में है, पर धनवानों में नहीं, दलितों में है किन्तु जालिमों में नहीं। हमें दोनों प्रकार की नास्तिकता से बचना चाहिए।

"कैसे होत दयालु संत जन ? जिन्हें बराबर राजा-निर्धन।" सच्चे संत केवल रंक पर ही दया नहीं करते, राजा पर भी करते हैं।

इस सम्बन्ध में नारद मुनि आदर्श सेवक थे। तीनों लोकों में एक-सी आजादी से वे प्रवेश कर सकते थे। उच्च वर्ग (स्वर्ग), मध्यमवर्ग (पृथ्वी) व कनिष्ठवर्ग (पाताल) इन सभी में वे स्वच्छन्दता से मिलते-जुलते और एक दूसरे के दुःख अथवा लड़ाई-झगड़े की दाद-फरियाद एक दूसरे तक पहुँचाते थे।

(८) *सख्ती और चकमा*—कुछ सेवक यह समझते हैं कि सेव्य की भलाई के लिए उस पर सख्ती भी करनी पड़ती है, डर भी दिखाना पड़ता है और फुसलाकर भी काम कराना पड़ता है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार बुरी आदत छुड़ाने के लिए बच्चों को दंड देना पड़ता है उसी प्रकार जनता भी एक बेसमझ बालक ही है। उनके साथ भी बालक की ही भाँति बर्ताव करना पड़ता है। कभी पुचकार कर, कभी फुसलाकर, तो कभी डाँट-डपट कर काम लेना पड़ता है।

लेकिन अब शिक्षण-क्षेत्रों में यह तत्व सर्व-मान्य हो गया है कि बालकों को सचमुच सुधारने के लिए भी दण्ड देना अनावश्यक ही नहीं बल्कि अनिष्ट भी है। उससे तो सुधार उल्टा कठिन हो जाता है। माता-पिता जितना मानते हैं उससे कहीं ज्यादा बच्चे बातों को समझते हैं। अपने माता-पिता की धोखा-धड़ी व चकमेबाजी वे फौरन पहचान लेते हैं और उसका अनुकरण भी करते हैं। समाज को अज्ञ अथवा अन्यायी समझ लेना सेवक की आत्म-प्रवंचना और समाज का द्रोह है। सेवक को कभी ऐसा द्रोह न करना चाहिए। सेवक में इस प्रकार के बड़प्पन की व दोषयुक्त भावना न होनी चाहिए कि अपनी संस्था में कोई गड़बड़ हो गई हो तो उसे जनता से छिपा लें, नहीं तो जनता का भाव बदल जायगा; वह हमारी संस्था से सेवा नहीं लेगी और इस तरह उसका नुकसान होगा। यदि सेवक को ही जनता के प्रति अविश्वास मालूम हो तो फिर जनता को सेवक के लिए अपनापन कैसे अनुभव होगा? वास्तविक स्थिति तो यह है कि जनता अपने सेवक की ठीक-ठीक कठिनाइयाँ जानने योग्य और उसके हाथों से अज्ञान में हो जाने वाली सारी भूलों को क्षमा कर दे, इतनी उदार होती है। उससे छिपाने में सेवक का हित नहीं।

९) *बड़प्पन का भाव* :—सेवक के मन में इस प्रकार की आत्म-पवित्रता के भाव उत्पन्न न होने चाहिएँ कि मैं दूसरे लोगों से भिन्न, बड़ा, पवित्र, पुण्यात्मा हूँ। भेद-भाव तो सेवा के लिए घातक ही है। लोग ऐसे सेवकों का दूर से तो आदर करते हैं किन्तु उनका अनुकरण या सहकार्य करने के लिए तैयार नहीं होते। सच्चे सेवक को तो लोग खुद ही आदर से देखते हैं और उसका आदर-सत्कार भी बड़े प्रेम से करते हैं। परन्तु इससे उसे फूल जाने की ज़रूरत नहीं है। हम यह सावधानी रक्खें कि हमें मान-सम्मान की आदत न लग जाय और उसकी अपेक्षा या आसक्ति में न फँस जायँ। सेवक में बड़प्पन का भाव पैदा होते ही लोगों पर भी उसकी उल्टी प्रतिक्रिया हुए बिना नहीं

रहती और "लोग मेरी योग्यता के अनुसार मेरा आदर नहीं करते"–एक बार ऐसा असन्तोष सेवक के मन में उत्पन्न हुआ तो समझ लेना चाहिए कि उसकी सारी सेवा पर पानी फिर गया।

सेवक को तो उलटे प्रति-दिन यह अनुभव होना चाहिए कि लोग मेरे प्रति इतनी आस्था दिखलाते हैं, मेरा खर्च-वर्च चलाते हैं, मेरी गलतियाँ दर-गुजर करते हैं, मेरा शरीर लोगों के अन्न से ही पला हुआ है, अनेक लोगों के सहयोग से ही यह छोटी-सी सेवा मुझसे हो रही है अतः मुझे लोगों के प्रेम, विश्वास और आश्रय के अधिकाधिक योग्य बनना चाहिए।

लोगों की तरह ही अपने साथियों के प्रति भी सेवक को नम्र होना चाहिए। "संघे शक्तिः कलौयुगे"—संघ की सहायता के बिना महात्मा भी कोई काम नहीं कर सकते। फिर साधारण सेवक की तो बात ही क्या? फलाँ कार्य मैंने किया है, मैं उसका चालक हूँ, इस प्रकार का अभिमान सेवक में न होना चाहिए। क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। संघ से पृथक हुआ सेवक वृक्ष से टूटी डाली की भाँति है; वह थोड़े ही समय में कुम्हला और सूख जायगा।

(२०) *प्रस्तुत का त्याग*—महान् कार्य करने की धुन में अथवा शान में सेवक को प्रति-दिन करने के सहजप्राप्त फुटकर काम न भूल जाना चाहिए। कल किये जाने वाले बड़े कर्त्तव्य के लिए आज के क्षुद्र कर्त्तव्य को छोड़ न देना चाहिए।"

मुझे स्मरण होता है कि श्री किशोरलाल मश्रुवाला ने एक बार कहा था कि—"बड़े होने पर वही देश सेवक हो सकेगा जो बचपन में माता-पिता का सेवक, फिर गुरु-सेवक और मित्र-सेवक होगा।"

हमारे कई देश-सेवक इसके विपरीत अपने घर की बुढ़िया अथवा नौकरानी के प्रति बड़ा तुच्छ व्यवहार करके जनता-माता की सेवा करने के लिए दौड़ जाते हैं। इस मुद्दे का थोड़ा-सा विवेचन पिछले प्रकरण

में एक दूसरे सिलसिले में आ ही गया है, अतः यहाँ अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

(११) *सेव्य का लाड़*—लोगों के उपयोगी होने की अतिरिक्त लालसा भी सेवक के मन में न होनी चाहिए। इस लालसा के वशीभूत होकर लोगों की सदोष अथवा हीन वासना को तृप्त करने के लिए उसे प्रवृत्त न होना चाहिए। सेवक का अर्थ गुलाम नहीं है कि उसके मालिक ने जो हुक्म दिया वह उसे बिना विचार किये बजा लाया। सेवक समाज का शिक्षक है। उसे लोगों की प्रवृत्तियों का नियमन भी करना चाहिए। जैसे—यदि ग्राम-वासियों ने ग्राम में फैले हैज़े के निवारणार्थ भैंसे की बलि देना निश्चित किया तो ग्राम-सेवक का कर्त्तव्य उस समारम्भ की व्यवस्था करना नहीं है, उसमें तो जितना हो सके उतना विघ्न उपस्थित करना ही उसका कर्त्तव्य होगा। प्रस्तुत लेखक ब्राह्मण है। वह एक दूर के ग्राम में चर्खा-प्रचार के लिए रहता था। वहाँ सफ़र में अछूतों की छूत लग जाने वाले अब्राह्मण ग्रामीण उसके पास अपनी शुद्धि के लिए "ब्राह्मण के हाथ का पानी" माँगने आते थे। पहले तो लोक-प्रियता सम्पादन करने के लोभ से उन्हें अनेक बार पानी दिया किन्तु जल्दी ही पानी देना बन्द कर दिया। लोगों को लगता "यह कैसा दुष्ट ब्राह्मण। इतने भी काम में नहीं आता।"

जिस प्रकार सेवक को सेवा के द्वारा आत्मोन्नति साध लेनी है उसी प्रकार सेव्य को भी उच्च शुद्ध स्व जाग्रत करके उनकी सेवा करनी चाहिए। सेव्य के मूर्खतापूर्ण अथवा दुष्ट हेतु से सेवक को अ-सहयोग ही करना चाहिए। कहना न होगा कि उसे अपने असहयोग के मूल में रहा दृष्टिकोण भी लोगों को समझा देने का प्रयत्न करना चाहिए।

(१२) *प्रभाव का दुरुपयोग*—सार्वजनिक कार्यकर्त्ता का अनेक प्रभावशाली लोगों और अधिकारियों से परिचय हो जाता है। उसकी निस्पृहता के लिए उनके मन में आदर होता है। अथवा उससे वे भयभीत भी रहते हैं। इस कारण अपने इष्ट-मित्रों की नौकरी के लिए

अथवा अन्य कार्यों की सफलता के लिए सिफारिश कर देना सेवक के लिए सुलभ हो जाता है। लेकिन सेवक को उस लोभ में पड़कर अपने पुण्य को नष्ट न करना चाहिए। उसी प्रकार उसे लोगों के व्यक्तिगत हित-सम्बन्धों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उम्मीदवार यदि योग्य होगा तो अधिकारी खुद ही उसे पसन्द कर लेगा अतः अपना प्रभाव खर्च करना अनावश्यक है। और यदि आवश्यक हो तो भी वैसा करना अनुचित है, यह बात सेवक को अच्छी तरह याद रखनी चाहिए। उम्मीदवार को साधारण सिफारिशी पत्र देना बुरा नहीं है, परन्तु वैयक्तिक पत्र नहीं देना चाहिए। सेवक का प्रत्येक काम सदा प्रकट रूप से होना चाहिए। उसे कोई भी ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिसके प्रकट होने पर उसे लज्जित होना पड़े।

(१३) *तरस नहीं चाहिए*—जिस प्रकार सेव्य का लाड़ नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार उसकी झूठी तरस भी नहीं खानी चाहिए। सेव्य को स्वावलंबी बनाना—उसे ऐसा बनाना कि उसे फिर हमारी सेवा की आवश्यकता ही नहीं रहे, सबसे बड़ी सेवा है। सेवक को चाहिए कि वह अपने को सेवा का आनन्द या बड़प्पन प्राप्त कराने के लिए सेव्य को दुर्बल, पंगु या परावलंबी न बना दे। जो काम सेव्य के ही करने योग्य हों उन्हें हमें उनके लिए न कर देना चाहिए। कितनी ही बार ऐसा करने से सेव्य को अपमान अनुभव होना भी सम्भव है। यह हरिजन-सेवकों का हरिजन-बस्ती की ही सफाई करने जाने-जैसा है। झाड़ू वाले से प्रतिदिन अपनी बस्ती साफ करवा कर साल में कभी-कभी किसी मौके पर उसका बस्ती साफ करने जाने की अपेक्षा क्या उस एक दिन उन्हें (हमारे घर साफ करने के) उनके काम से छुट्टी देकर खुद अपने हाथ से उनका अपनी बस्ती साफ कर लेना बुरा है? वे स्वयं अपनी बस्ती की सफाई करने की आवश्यकता अनुभव न करें तो भी सेवक को चाहिए कि वह उन्हें जितना हो सके उतना बस्ती की साफ-सफाई करने के लिए उद्यत करे। यदि किसी दिन

स्वयंसेवकों की टोली आपका ही घर साफ करने के लिए आ जाय तो आपको कैसा लगेगा ?

सेवक दूसरों के दुःख से दुखी हो तो इसका यही अर्थ है कि वह स्वयं ही अपना आराम छोड़कर उनके ही साथ उनका दुःख निवारण करने की योज़ना में लग जाय। किन्तु उसे उसकी दया नहीं खानी चाहिए। यह समझना चाहिए कि दुःख या कठिनाई मनुष्य को उसकी कार्य-कुशलता दिखाने के लिए चुनौती है। वे कृति-शून्य शोक का कारण न बनें। दया खाना दूसरे का अपमान है। कैसी भी विपत्ति में स्वाभिमानी पुरुषों को दूसरों के द्वारा दया-प्रदर्शन सहन नहीं होता। दूसरे की दया सहना या स्वयं अपने प्रति दया खाना मन की दुर्बलता है। सेवक के लिए ऐसी निर्बलता की पुष्टि करना अच्छा नहीं। अतः गरीब या आपद्ग्रस्त व्यक्ति को जो मदद करना हो वह—'आओ हम तुम मिलकर इस कठिनाई का उपाय कर लें। इस बार मैंने तुम्हारी मदद की है, तो फिर कभी मुझे भी तुम्हारी सहायता लेनी पड़ेगी'—इस प्रकार की भावना से होनी चाहिए। दूसरों को भार-स्वरूप प्रतीत होने वाला उपकार करने की अपेक्षा चुपचाप बैठना अधिक अच्छा है। उसी प्रकार जिससे निकम्मा, दुर्बल, लालची, परोपजीवी, अथवा परावलम्बी बने, वह सेवा नहीं अपकार ही है।

(१४) *सेवा के लिए दुष्कृत्य*—परन्तु सेवा-मार्ग में सबसे बड़ा खतरा अथवा सबसे अधिक शोचनीय प्रमाद यह है कि सेवक जो दुष्कृत्य अपने स्वार्थ के लिए भी नहीं करता वह सेवा-मार्ग के लिए करने को तैयार हो जाता है। जो अपने स्वयं के लाभ के लिए झूठ बोलने का साहस नहीं करता, वही परोपकारार्थ झूठ बोलने में नहीं हिचकता। जो अपने पेट के लिए भी चोरी-बेईमानी, वचन-भंग अथवा ढोंग नहीं करता वह सब देश-भक्ति के नाम पर करना भूषण समझता है। इसका अर्थ यह है कि हमारे व्यक्तिगत जीवन और सांघिक जीवन के आदर्श दरअसल भिन्न, बल्कि परस्पर-विरुद्ध, हैं। हम ऐसा

मानते दीखते हैं कि नीति-अनीति के बन्धन व्यक्तिगत जीवन पर ही लागू होते हैं और संस्था के काम-काज में अथवा राजनीति में सांघिक स्वार्थ ही नीति की एक मात्र कसौटी है। यदि परोपकार व्यक्ति के जीवन का आदर्श है तो संघ या संस्था का आदर्श मानो स्वहितार्थ परघात ही है।

लेकिन यह भ्रम है, और यह सेवा-मार्ग की विडम्बना है। नीति-नियमों को भंग करके कोई भी सेवा नहीं कर सकता। स्वामी नारायण सम्प्रदाय की शिक्षा-पत्री (श्लोक ७३) में कहा है कि—

> अपि भूरिफलं कर्म धर्मापेतं भवेद्यदि।
> आचर्यं तर्हि तन्नैव धर्मः सर्वार्थ दोऽस्ति हि॥

"यदि कोई काम बहुत फल देने वाला होकर भी नीति-धर्म के विरुद्ध हो तो उसका आचरण मत करो। क्योंकि धर्म से बहुत से काम नहीं बल्कि सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि होती है।" बहुत लाभ के लिए सम्पूर्ण लाभ छोड़ देना बुद्धिहीनता का लक्षण है।

८

सेवक की साधन-संपत्ति

साधक वृत्ति—सेवक का अर्थ केवल 'कार्यकर्त्ता' नहीं है। यह कोई भी नहीं कहेगा कि जिसके हाथों से बहुत काम होते हैं वह बड़ा सेवक है। वह काम सत्कार्य होना चाहिए, लोक-कल्याणकारी होना चाहिए; महज कुछ मनुष्यों के हित में और कुछ दूसरे लोगों के अहित में न होना चाहिए। ऐसे सत्कार्य सद्भावना की प्रेरणा के बिना होना बहुधा सम्भव नहीं हैं। और सद्भावना या सद्वृत्ति के लिए यथार्थ ज्ञान का सहारा रहना भी आवश्यक होता है। निरन्तर कार्य व्यस्तता और दौड़-धूप सेवक का मुख्य लक्षण नहीं है। किन्तु सद्वृत्ति और उचित दृष्टि अधिक हार्दिक--सच्चा--लक्षण है। किसी एक दृश्य कार्य या परिणाम को प्राप्त कर लेने में ही सेवक के कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती; बल्कि आत्मोन्नति, उसके मूल में रहने वाली शान्ति, समाधान, आनन्द ये सेवा के ध्येय हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो सेवक दरअसल एक साधक है। किन्तु व्यक्ति का अस्तित्व समाज से भिन्न नहीं है। समाज के सुख-दुःख, हित-अहित व उन्नति-अवनति से व्यक्ति के सुख-दुःख हिताहित व उन्नति-अवनति गुँथे हुए हैं। अतः साधक का कार्य गुफा में ईश्वर-चिन्तन करने से नहीं पूरा होता। उसे तो समाज में रहकर उसे अपने साथ ले जाना पड़ता है। आरम्भ में जो साधक है वह इस तरह सेवक का रूप धारण कर लेता है। उसे अपना और समाज का वास्तविक अर्थात् पारमार्थिक हित साधना होता है। परमार्थ-साधन ही उसके जीवन का मध्यबिन्दु रहता है और उसके सारे कार्यक्रम को उसी मध्यबिन्दु के आस-पास चक्कर काटते रहना

से अधिक वास्तविक है और इसी न्याय से आदर्श सेवक वास्तविक सेवक से अधिक सच्चा है।

रेखागणित के 'वास्तविक' बिन्दु का एक विशेष स्थान अवश्य होता है, किन्तु उसमें लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती। उसी प्रकार वास्तविक रेखा में लम्बाई तो होती है किन्तु चौड़ाई बिल्कुल नहीं होती। भले ही वास्तविक सृष्टि में यह 'वास्तविक' बिन्दु या 'वास्तविक' रेखा न मिले तो भी रेखा-गणित के तमाम प्रमेय इस कल्पित अतएव वास्तविक बिन्दु और रेखा पर ही आधारित हैं। विद्यार्थी चाहे कितना ही होशियार क्यों न हो, उसके द्वारा बनाया हुआ बिन्दु गोल और रेखा चौकोर ही होगी। किन्तु इसके लिए रेखागणित की मूल परिभाषा को ही ढीला कर देने से काम नहीं चलेगा। ऐसा करने से तो शास्त्र की प्रगति ही रुक जायगी।

सेवक का आदर्श भी हमें किसी एक व्यक्ति में पूरी तरह चरितार्थ हुआ नहीं दिखाई देगा। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सेवक में भी कुछ दोष या न्यूनताएँ होंगी ही। लेकिन केवल इतने के ही लिए कि हम आदर्श तक नहीं पहुँच सकते, आदर्श को नीचे खींचना उचित नहीं होगा। आदर्श सेवक का अगला वर्णन पढ़ते समय इस खुलासे को याद रखना ज़रूरी है। हमने ऊपर कहा ही है कि सेवक तो एक साधक है, किन्तु वर्णन तो हमें सिद्ध का ही करना पड़ेगा। किसी भी साधक को सिद्ध के गुणों और अपनी कमियों का अन्तर देखकर निराश होने की आवश्यकता नहीं है। उसी प्रकार अपनी न्यूनता पर सन्तुष्ट हो रहना भी ठीक नहीं है। हमारे अन्दर अनेक त्रुटियाँ हैं—यही तो उनसे लड़कर अपना पुरुषार्थ दिखाने का सब से अच्छा मौका है। एक बात और भी ध्यान में रखना चाहिए कि सेवक जैसी कोई एक स्वतंत्र जाति या पेशा नहीं है। यह बात नहीं है कि मर्दुमशुमारी में जिनके नाम 'सेवक' के खाने में दर्ज हो गये हैं उन छाप लगे हुए सेवकों को ही नीचे के लक्षण

या गुण प्राप्त करने चाहिएँ। प्रत्येक मनुष्य जिस प्रकार भक्त, ज्ञानी, या गृहस्थ है उसी प्रकार कम-ज़्यादा मात्रा में सेवक भी है।

आस्तिकता अथवा श्रद्धा :—आस्तिकता, ईश्वर पर या मांगल्य पर श्रद्धा सेवक के शरीर का कवच है। निराशा, विफलता तथा संकट-काल में वह उसको रक्षा करेगी। जीवन एक सतत संग्राम है। सद्वृत्ति और दुर्वृत्ति, सत्य और असत्य, ज्ञान और अज्ञान, प्रकाश और अँधेरा, चैतन्य और जड़ता, जागृति और निद्रा, इनके बीच असंख्य मोर्चों पर असंख्य झड़पें होती रहती हैं। उसमें कई बार सत्पक्ष हारता हुआ दिखाई देगा, अन्याय, दम्भ, जुल्म, स्वार्थ आदि की जीत हुई दिखाई देगी। सज्जनों को कष्ट, दुर्जनों का उदय होना दिखाई देगा। परन्तु सैनिक को घबराने या निराश होने का कोई कारण नहीं है। सत्यमेव जयते नानृतम्—सत्य की ही विजय होगी असत्य की कभी नहीं—इस प्रकार का विश्वास रखना चाहिए।

संसार एक अंधा-धुंधी या केवल गोलमाल नहीं है, बल्कि वह एक सुव्यवस्थित, सुनियन्त्रित, सुसंगठित रचना है। वह किसी पागल का ऊटपटांग प्रलाप नहीं है बल्कि एक महाकवि का मधुर काव्य है। संसार का नियंता, विधाता, आत्मा, प्राण—जैसा कुछ-न-कुछ अवश्य है। इसी को बहुत से लोग ईश्वर कहते हैं। वह सत्य-शिव-सुन्दर, सर्व-व्यापी, सर्व-दर्शी, व सर्व-शक्तिमान है। न्यायी और दयालु है। वह छोटी से छोटी वस्तु की भी उपेक्षा नहीं करता है। वह प्रत्येक के यथायोग्य पोषण की चिन्ता रखने वाला है। वही हमें जन्म देता है, पोषण करता है और उसी तरह उचित समय पर देहमुक्त भी करता है।

वह हम प्राणियों का शिक्षक है। विश्व उसकी पाठशाला है। वह विद्यार्थियों के सामने कठिन से कठिन और बुद्धि कुंठित कर देने वाले प्रश्न रखता है। परन्तु प्रत्येक विद्यार्थी की सतत प्रगति की ज़िम्मेदारी उसने ले रक्खी है। "न मे भक्तः प्रणश्यति—मेरे भक्त का नाश नहीं हो सकता"—यह उसकी घोषणा है। इस प्रकार की श्रद्धा

ही अपयश और कसौटी के समय सेवक को धैर्य प्रदान करेगी। कुशल तैराक को जिस प्रकार समुद्र की तूफानी लहरों में तैरने में विशेष आनन्द आता है उसी प्रकार धीरोदात्त सेवक को चारों ओर से घिरे रहने पर दुगने उत्साह से प्रयत्न करने की उमंग पैदा होती है। महान् ध्येय की पूर्त्ति के लिए संकट से लड़ने में जो आनन्द या धन्यता अनुभव होती है वह ध्येय—विहीन सुखी जीवन में नहीं होती, जिसे बर्नर्डशा के कथनानुसार "जीवन का सच्चा आनन्द" कहते हैं वह यही है कि हम अपने अंगीकृत महान ध्येय के लिए अपना जीवन अर्पण कर दें; जरा-जीर्ण बन जाने के पहले उसके लिए थककर घुलकर मिट जावें। प्रायः लोग अपने-अपने तुच्छ प्रपंचों में व उनके क्षुद्र दुःखों में और शिकायतों में ही उलझे रहते हैं; वे यह अपेक्षा करते हैं कि संसार मेरे सुख के लिए परिश्रम करे, परन्तु संसार वैसा नहीं करता, इसलिए वे मन में कुढ़ते रहते हैं। परन्तु ऐसे क्षुद्र, स्वार्थी, कष्टमय जीवन की अपेक्षा विश्व शक्ति के हाथ का हथियार बन कर रहना कितना अधिक वाञ्छनीय है।

गम्भीरता—इस श्रद्धा से सेवकों में गम्भीरता आयेगी। मनुष्य-शरीर एक बड़ी थाती के रूप में हमें मिला है। हमें उसे सार्थक करना चाहिए। इस जन्म का प्रत्येक क्षण बहुत मूल्यवान है। दूसरे सब मनुष्य, हमारे अड़ोसी-पड़ोसी ये सब ईश्वर की मूर्त्तियाँ ही हैं। भले ही उन्हें स्वयं इसका ज्ञान हो या न हो, परन्तु हम तो उनके सच्चे स्वरूप को पहिचान सकते हैं। अतः सेवक किसी भी मनुष्य के सम्बन्ध में लापरवाह या निश्चिन्त नहीं रह सकता; वह किसी भी बात की उपेक्षा या तिरस्कार नहीं कर सकता।

सब लोग ईश्वर के बाल-बच्चे हैं; सब के हृदयों में एक ही आत्मा रम रही है; मनुष्य-मात्र में, दुष्ट से दुष्ट में भी धर्म-बुद्धि रहती है। प्रत्येक मनुष्य ज्ञान, भक्ति व सत्कर्म के बल पर आत्म-प्राप्ति या ईश्वर-साक्षात्कार कर लेने का पात्र है। नरदेह मोक्ष का साधन है, उसकी

महिमा बहुत बड़ी है। हमें इस नरदेह को सार्थक करना चाहिए। प्रत्येक नरदेहधारी आत्मा के लिए हमें आदर-भाव रखना चाहिए। ऐसे अखंड भान का नाम ही गम्भीरता है।

प्रसन्नता—यह कहने की जरूरत नहीं कि यह गम्भीरता दिल दहलाने वाली, दुर्मुख, उदासी छा देने वाली, नहीं हो सकती। गम्भीरता के साथ-साथ प्रसन्नता भी परिपूर्ण होनी चाहिए। ईश्वर की सृष्टि में सब कुछ यथा-योग्य ही है। इस विश्व-ग्रन्थ में कदम-कदम पर भिन्न-भिन्न प्रकार की समस्याएँ सुलझानी पड़ती हैं। परन्तु प्रत्येक समस्या का उत्तर अन्त में अवश्य मिलता है। अलबत्ते समस्या के हल होने तक थोड़ी बेचैनी रहती है; परन्तु उसके बिना समस्या हल करने का आनन्द भी कैसे मिल सकता है?

संसार में दुःख है, किन्तु वह भी जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक ही है। अपने हाथ आग के छू जाने से दर्द होता है, वह अपने अच्छे के लिए ही है। यदि नहीं होगा तो हाथ जल जाने तक मनुष्य आग से दूर नहीं होगा। और यदि ज्यादा खाने से पेट में दर्द नहीं होगा तो लोग प्राण जाने तक खाना बन्द नहीं करेंगे। इस प्रकार संसार में दीखने वाले अनिष्ट भी परमेश्वर के द्वारा हमारे हित के लिए ही निर्मित हुए हैं। बात सिर्फ इतनी ही है कि उसकी योजना हमारी समझ में नहीं आती है। व्याकुलता या हार्दिकता के साथ ही सेवक में थोड़ा-सा विवेक, खिलाड़ीपन, अलिप्तता भी होनी चाहिए। सुख की या दुःख की, सम्मान की या अपमान की, कर्त्तव्यपालन की या ऐश-आराम की अर्थात् थोड़े में यह कि अच्छे-बुरे हर प्रसंग में सोलहों आना लिप्त न रह कर उस बात की मर्यादा का ज्ञान तथा उन प्रसंगों में अलिप्त या तटस्थ दृष्टि से देखने की शक्ति कायम रखनी चाहिए। इस शक्ति के द्वारा मनुष्य प्रत्येक प्रसंग का अतितरण कर सकता है—पार या परे हो सकता है: पानी चाहे कितना ही गहरा क्यों न हो उसका तिर प्रवाह के ऊपर ही रहता है।

नम्रता—सब लोग एक ही परमेश्वर की मूर्त्ति हैं, वे सब आत्मा हैं। बाह्यतः छोटे-बड़े, काले-गोरे, सुरूप-कुरूप, धनी-गरीब कितने ही भेद क्यों न हों तो भी सबके अन्दर एक ही चैतन्य रम रहा है। इस ज्ञान या भान से सेवक के मन में समत्व-बुद्धि उत्पन्न होगी। इस समत्व बुद्धि से ही नम्रता उत्पन्न होती है। नम्रता का अर्थ दब्बूपन, भोलापन, मूर्खता या हीनता का भाव नहीं बल्कि नम्रता का अर्थ है—मनुष्य मात्र के प्रति आदर-भाव। नम्रता में पूर्णतः आत्म-विश्वास, स्वाभिमान अथवा आत्म-आदर होता है। अपने प्रति आदर होने के कारण ही दूसरों के प्रति आदर होगा, और दूसरों के प्रति आदर होने के कारण अपने प्रति भी आदर रहेगा। नम्र मनुष्य दीन-हीन लोगों का तिरस्कार नहीं करेगा, उसी प्रकार बड़े आदमियों के रौब-दाब से चौंधिया भी नहीं जायगा। दीन-हीनों में भी चतुरता, उदारता, शालीनता बहुत होती है, और रौब-दाब के चेहरे के अन्दर, डरपोकपन, कृपणता, मत्सर इत्यादि छिपे रहते हैं। सेवक की पैनी दृष्टि दिखाऊ दैन्य और बड़प्पन को भेद कर सामान्य मनुष्यता के दर्शन कर लेगी। नम्रता में निर्भयता भी होती है। 'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनंतरम्' दुष्टों को पहले नमस्कार करें और सज्जनों से मौका मिलने पर भी किया तो कोई हानि नहीं। यह रीति नम्रता में नहीं खपती।

सेवक गुलाम नहीं, न मालिक ही है; वह तो मित्र है। जिस प्रकार वह अपने स्त्री-बच्चों का, नौकर-चाकरों का मित्र है वैसे ही राजा-महाराजाओं का भी मित्र है। वह शिक्षक या पालक होने पर भी अपने अधिकृत लोगों की आत्मा का पुजारी है, खिलने वाले फूलों की परवरिश करने वाला माली है। नये यात्रियों का मार्ग-दर्शक है। भले ही ये प्रवासी इस विशेष प्रदेश से अपरिचित हों, फिर भी उनका सम्पूर्ण संसार का ज्ञान इस मार्ग-दर्शक के स्थानीय ज्ञान की अपेक्षा कितने ही गुना अधिक श्रेष्ठ होना असम्भव नहीं है, इस बात का ज्ञान इस सेवक भूमिया को रहेगा। उच्च या बड़ा अधिकारी होने पर भी

सेवक पर अधिकार का 'मद' नहीं चढ़ता। वह अपना अधिकार इसी भावना से चलायेगा कि मैं अपने मातहत कर्मचारियों का सेवक हूँ। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों का संचालन करनेवाले ईश्वर की सृष्टि में हमारा यह ऐहिक जीवन एक पहर भर का नाटक है। यदि इस नाटक में मुझे राजा का पार्ट मिल गया तो मुझे अपने चपरासी को कम समझने का कोई कारण नहीं है। राजा-चपरासी का भेद तो कामचलाऊ और दिखाऊ है और यह भी कोई बात नहीं है कि जो राजा का पार्ट करता है वह तो कुशल नट है और चपरासी का पार्ट करने वाला अनाड़ी है।

नम्रता का अर्थ है महत्वाकांक्षा का पूर्ण अभाव। सेवक को तो कार्य की आकांक्षा होनी चाहिए।

"सभी संसार करूँ सुख पूर्ण
जलाऊँ ज्ञान दीप सर्वत्र
बजाऊँ अरे, भक्ति का ढोल,
मिटे कलि की यह सारी पोल।"

सेवक इस प्रकार की अमर्याद आकांक्षाएँ अवश्य रक्खें; परन्तु वैयक्तिक प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, कीर्त्ति, मान-सम्मान, सत्ता इत्यादि की लालसा तनिक भी नहीं होनी चाहिए। नहीं तो सेवा के नाम पर अनेक प्रकार के अनर्थ हो जाते हैं, इसलिए नम्रता और निरपेक्षता सेवा-योग का पहला पाठ है।

अक्रोध—नम्रता में से अक्रोध सहज ही उत्पन्न हो जाता है। क्रोध में गरूर रहता है, सत्ता की या ऊपर रहने की भावना रहती है। जब सेवक किसी के भी ऊपर है ही नहीं तो फिर वह गुस्सा भी किस पर करेगा?

इसी प्रकार सेवक कर्मयोगी है और 'योगः कर्मसु कौशलम्'—कर्म-योग का अर्थ है कार्य-कुशलता। गुस्सा आना अनाड़ीपन या दुर्बलता का चिह्न है। यदि सवाल विद्यार्थी की समझ में नहीं आया हो तो अनाड़ी शिक्षक को फौरन गुस्सा आ जाता है। कुशल शिक्षक

उसे समझाने के लिए भिन्न-भिन्न युक्तियाँ ढूँढ़ सकता है, अतः उसे गुस्सा नहीं आता है। क्रोध तो अनाड़ीपन के कारण आता है और क्रोध से उलटी बुद्धि पंगु हो जाती है, दृष्टि अंधी हो जाती है। क्रोध दुर्बलता के कारण आता है और क्रोध से उलटे शक्ति का क्षय होकर दुर्बलता बढ़ती है। सावधानी और शक्ति-संग्रह के लिए क्रोध बहुत बाधक है। कहते हैं—"एक बार क्रोध आया कि बारह वर्ष की तपस्या व्यर्थ हो जाती है।" यह बात अक्षरशः सत्य है। गुस्से में आकर अपनी शक्ति व्यर्थ खर्च करना सेवक के लिए वांछनीय नहीं है।

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गंना पुनर्भवम्
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामर्ति नाशनम्
न चाहूँ मोक्ष या स्वर्ग न तो राज्य न मान ही
दीन दुःखित जीवों की सान्त्वना—एक कामना।

वात्सल्य :—यह ठीक है कि संसार में काफी कलह, जुल्म, झगड़े, द्वेष आदि हैं और वे दुःख के कारण बनते हैं। तथापि मूलतः बहुत से दुःख काल्पनिक ही होते हैं। हर एक को यह प्रतीत होता है कि "मैं दुखी हूँ, संसार मुझे दुःख दे रहा है।" यह कल्पना ही बहुत से दुःखों की जड़ है। जिस तरह स्कूल में बालक सताये हुए आते हैं उसी तरह शिक्षक भी अपने तौर पर सताये हुए रहते हैं। भोजनालयों में जिस प्रकार ग्राहकों को शिकायत रहती है उसी तरह मालिकों को भी रहती है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य को केवल अपने दुःख और दूसरों के जुल्म ही दिखाई देते हैं। मालिकों की शिकायत नौकरों के दुःख से तिल-भर भी कम नहीं रहती है। सास और बहू, जेलर और कैदी, रेलवे का टिकट मास्टर और पैसेंजर सभी अपने-अपने तौर पर दुःखी रहते हैं। सभी बिना अपराध सताये जाते रहते हैं। इन सब में केवल एक सेवक ही अपवाद है। केवल वही हमेशा सन्तुष्ट, हमेशा प्रसन्न और हमेशा हँस-मुख रहता है। जुल्म और दुःख उसके हिस्से में नहीं आते।

तब सच्चा दुखी कौन ? वही जिसने अपने मन में मान लिया है कि "मैं दुःखी हूँ।" सेवक पर कठिनाइयाँ आती हैं, किन्तु दुःख अलबत्ते नहीं आयेगा; क्योंकि दुःख तो कल्पना का खेल है। कठिनइयों में जो हाय-हाय करने लगता है उसे ही दुःख सताता है। जो उस कठिनाई का सामना करके शान्त चित्त से उसका उपाय ढूँढ़ता है उसके ऊपर दुःख का वश नहीं चलता। दुःख नव-निर्माण की एक आवश्यक सीढ़ी है—ऐसा समझ कर जो उसका प्रसन्नता से स्वागत करता है, उसके लिए दुःख ही सुख बन जाता है। लोग आनंद के लिए यात्रा करने जाते हैं; उस यात्रा का वास्तविक आनन्द तो हर प्रकार की नई-नई कठिनाइयों और असुविधाओं में ही है। मन-चले यात्री उससे दुःखी नहीं होते।

चिड़चिड़ापन निर्बलता का लक्षण है। कमजोर या जी-जान से मेहनत करनेवाले मनुष्य ही बहुधा चिड़चिड़े होते हैं। बलवान क्षमाशील होता है। 'क्षमा' का अर्थ ही है सामर्थ्य। बेईमानी और जुल्म जैसे दोष भी भीति, घबरा जाने की वृत्ति, "मेरा क्या होगा ?", इस प्रकार की आशंका आदि से ही पैदा होते हैं। आत्म-रक्षा के अनाड़ी उद्योगों के ही वे लक्षण हैं। जिन्होंने जीवन की कला नहीं साधी है वे ही ऐसी उखाड़-पछाड़ करते हैं। जिसे तैरना नहीं आता है यदि वह पानी में गिरता है तो खूब हाथ-पैर मारता है किन्तु फिर भी गोते ही खाता रहता है और अपने पास के आदमी से चिपट कर उसे भी अपने साथ डुबो देता है। परन्तु जो तैरना जानता है वह शान्त व निश्चिन्त रहता है। वह सहज मौज से तैरता रहता है और दूसरों को भी सहारा दे सकता है।

इस संसार-रूपी महासागर में भी सेवक इसी तरह बिना आयास के तैरता है और दूसरों को भी धैर्य और सहारा देता है। उसके हृदय में मनुष्य मात्र के लिए करुणा और वात्सल्य रहता है। यदि कोई उससे दुर्व्यवहार करता है तो वह यह पहचान कर कि यह अज्ञान,

दुर्बलता, डर, दुखी मन-स्थिति आदि का ही परिणाम है, उस मनुष्य के साथ विशेष कोमलता से व्यवहार करता है और उसके दुःख को दूर करने का विशेष प्रयत्न करता है। सेवक 'सहनशील' होता है—ऐसा कहना ही अनावश्यक है। क्योंकि सहनशीलता प्रदर्शित करने के लिए सबसे पहले दुःखों का अनुभव होना चाहिए। सेवक को तो दुःख अनुभव करने की इन्द्रिय ही नहीं होती, अतः वह सहनशीलता किसके प्रति दिखावे ?

"भूतों की दया, पूँजी है सन्त की,
अपने देह की ममता नाहीं।
कहे तुका सुख दूसरों के सुख,
झरता है मुख अमृत हो॥"

और भी

"कहे तुका सत्य बचा उपकार-अर्थ।"

अपरिग्रह—सारा समाज ही सेवक का कुटुम्ब है। सभी लोग उसके हैं और वह सब लोगों का है। जहाँ इस तरह की अभेद-स्थिति हो गई वहाँ सेवक की अपनी या खानगी चीज़ अथवा सम्पत्ति क्या रहेगी ? और फिर होने की आवश्यकता भी क्या है ? हर घर के परिवार में प्रत्येक बालक के नाम के या व्यक्तिगत—अर्थात् एक प्रकार की स्वतन्त्र मिल्कियत जैसे—कपड़े, खिलौने, पुस्तकें, फाउंटेनपेन, वर्त्तन इत्यादि रहते हैं। परन्तु क्या किसी ने माँ का खास अपना रिजर्व कमरा, वर्त्तन, खिलौना आदि देखा है ? सेवक तो समाज का नौकर, शिक्षक, नेता, और अवसर पड़ने पर राजा भी है, उसी प्रकार वह समाज की माता है। माता का अपनी वस्तुएँ ताले में रखना मानों लड़कों का द्रोह करना है। उसी प्रकार सेवक के लिए भी व्यक्तिगत जायदाद रखना ठीक नहीं है। उसका मालिक समाज उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है। "न भूलें कभी राम दासा-

भिमानी" इतना बड़ा मालिक होने पर फिर उसे कल की चिन्ता कैसी? उसे जहाँ जिस चीज की जरूरत होगी वह उसे मिलती ही जायगी। जो कुछ मिलेगा उसी में उसे संतोष होगा। अपने काम की चीजें, अन्न, वस्त्र, बिछौना, घर, पुस्तकें, मान-सम्मान, सब कुछ ठीक समय पर ठीक-मात्रा में उसके पास अपने आप चले आयेंगे—इस प्रकार का आत्म-विश्वास होने से वह सन्तुष्ट और निश्चिन्त रहता है।

भोग-मर्यादा—उपर्युक्त कथन में इतना ही संशोधन आवश्यक है कि सेवक यह मान लेगा कि अपने पास आने वाले उपभोग पर्याप्त हैं, लेकिन वह यह नहीं मान लेगा कि वे खुद-बखुद आये हैं इसलिए आवश्यक हैं या उनको स्वीकार करना उचित ही है। अनेक बार जनता इतनी उदार हो जाती है कि वह अपने सेवक का लाड़ करने लगती है; वह उसकी आवश्यकता से अधिक अनेक प्रकार के या अधिक मात्रा में उपभोग उसके सामने लाकर रख देती है। परन्तु जिस प्रकार यजमान जितना आग्रह करे उतना सब भोजन कर लेना मेहमान के लिए हितकर नहीं होता उसी प्रकार अनायास मिलने वाले सारे उपभोग भोगना भी सेवक के लिए विहित नहीं है। अपनी अपेक्षित सुख-सुविधा में किसी प्रकार की कमी पड़ने पर उसे अपनी अपेक्षा को दुरुस्त करके "इतनी ही मेरी पात्रता थी" यह कहकर सन्तोष मान लेना चाहिए। लेकिन उसे अपने उपभोगों की अन्तिम मर्यादा आँक रखनी चाहिए।

कुटुम्ब, शिविर, पाठशाला, छात्रालय, सेना, इत्यादि घनिष्ठता के सांघिक जीवन में भी लोगों की प्रवृत्ति अपने लिए सबसे अच्छी जगह, सबसे अच्छे कपड़े, सबसे अच्छे बर्त्तन चुन लेने की होती है। सब अच्छे-अच्छे मुझे मिलें और खराब-खराब साथियों को—'यतो रत्नभुजो वयम्' = जितने भी रत्न हैं वे सब हमारे उपभोग के लिए—यह वृत्ति सेवक की नहीं होगी। "रद्दी-रद्दी चीज किसी-न-किसी को लेनी ही पड़ेगी और सब अपने ही हैं," ऐसा मान कर सेवक अपने

लिए खराब चीजें चुन लेगा और अपनी योजना—शक्ति के बल से उसी में सुविधा और शोभा पैदा कर देगा।

ऐसा करने का अर्थ यह नहीं है कि सेवक को कठिनाइयां और भूख-प्यास में ही आनन्द मानना चाहिए। सेवक को अपनी उचित आवश्यकताओं के लिए तनिक भी लज्जाशील नहीं बनना चाहिए। स्वजनों से शर्म कैसी?

सादा जीवन—सेवक का रहन-सहन सादा और ऐसा होना चाहिए जो सब को मिल सके। उसमें उच्चता का दिखावा नहीं होना चाहिए। मैं दूसरों से कुछ भिन्न हूँ, ऊँचे दरजे का हूँ, यह दिखाने के लिए अपने कपड़े, अपना सामान, अपना भोजन दूसरों की अपेक्षा ऊँचे दरजे के या भिन्न प्रकार के होने चाहिए—इस प्रकार मानना या कहना सेवक को जरा भी शोभा नहीं देता (बहुत से 'प्रतिष्ठित' लोग केवल इसी के लिए मँहगी चीजें काम में लाते हैं) मर्तबा या प्रतिष्ठा जैसी कोई चीज ही सेवक पर लागू नहीं होती। सेवक यह कभी नहीं कहेगा कि "कुली मेरा बोझा उठावे और मैं केवल छाता या चाँदी की मूठ वाली लकड़ी ही हाथ में लेकर चलूंगा।" वह किसी को भी अपना नौकर, शागिर्द, मजदूर या चपरासी नहीं मानेगा।

सेवक को प्रतिष्ठा के लिए, बड़प्पन के लिए, या इतने के ही लिए कि हमारे पास बहुत से साधन हैं, दूसरों की अपेक्षा ऊँचे दरजे का रहन-सहन नहीं बनाना चाहिए। उसे तो दूसरों के साथ ही साथ रहना, बरतना, खाना-पीना लाना-रखना चाहिए। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे अपने स्वास्थ्य की दृष्टि से या कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से विशेष प्रकार का भोजन करने, कपड़े पहनने, सुविधा लेने या दूसरों से अपनी सेवा करवाने में बुराई है। उसे अपने स्वास्थ्य के लिए आवश्यक दूध, घी खाना चाहिए, ऊनी कपड़े पहनना चाहिए, अपने कपड़े दूसरों से धुलवाना चाहिए। रिक्शा, डोली, या दूसरों के कंधों पर भी बैठ कर जाना चाहिए। पर यह सब

बड़प्पन की भावना से नहीं करना चाहिए, बल्कि केवल सहकारिता और कृतज्ञता की भावना से करना चाहिए और हम जिनसे सेवा ले रहे हैं उनकी उसी प्रकार के प्रसंग पर खुद भी वैसी ही सेवा करने की तैयारी रखनी चाहिए। उसी प्रकार अपने स्वास्थ्य के लिए कीमती भोजन करते समय भी यह देख लेना आवश्यक है कि हमारे पास के दूसरे अशक्त या पड़ोसी लोगों की उसी तरह आवश्यकता पूर्ण होती है या नहीं। यह देखकर ही उसके अनुसार अपनी उचित आवश्यकता पूरी करनी चाहिए।

सेवक की दृष्टि अपने रहन-सहन को जितना सम्भव हो उतना सीधा-सादा तथा कम खर्च और अपनी आवश्यकताओं को जितना सम्भव हो कम करने की होनी चाहिए। सादेपन का अर्थ दरिद्रता नहीं है। सादेपन का अर्थ है सुख-चैन का और अनावश्यक उपभोगों का त्याग। जिन वस्तुओं से मनुष्य का आरोग्य व कार्य-शक्ति बढ़ती है वे जीवन के लिए आवश्यक व शेष सब वस्तुएँ अनावश्यक और सुख-चैन की हैं। उनके उपभोग से उलटे आरोग्य और कार्य-क्षमता नष्ट होती है। कुछ ऐसी भी 'तटस्थ' वस्तुएँ हो सकती हैं जिनके उपभोग से कार्यशक्ति न बढ़ती है, न घटती है। उन्हें भी वर्ज्य ही समझना चाहिए। क्योंकि उस वस्तु को पैदा करने में हमारा, अपना या दूसरों का श्रम व्यर्थ जाता है, इस अर्थ में यही समझना चाहिए कि उतनी कार्य-शक्ति व्यर्थ ही गई। अनावश्यक 'ज़रूरतों' और खर्च से सेवक का समाज पर उतने ही अंशों में बोझ बढ़ जाता है और उसके कारण आत्म-विश्वास और हर परिस्थिति का सामना करने की हिम्मत कम हो जाती है।

"शौर-...—सेवक को किसी भी स्थिति में रख दो, वह सेवक ही है। जो-जो काम आ पड़ता है उसे करने के लिए वह हर समय, हर मौके पर, हर सम्भव प्रकार से तैयार रहेगा। हमारी कार्य-क्षमता अधिक से अधिक हो, दूसरों को हमसे ज्यादा से ज्यादा लाभ मिले

कह कर काम को शर्त्त के साथ महत्व दिया है। परन्तु यह वचन "हत्वापि स इमां लोकान्न हन्ति न निबध्यते"—लोगों को मार कर भी योगी उस हत्या का कर्त्ता नहीं होता, या बन्धन में नहीं पड़ता; इसी प्रकार के वचन का नमूना है। जो गुणातीत है, वह दोषातीत भी होगा। एक प्रकार से सारा ही काम प्रजन है, क्योंकि वह बीजोत्पत्ति अवश्य करता है। फिर उस बीज में से प्रजा उत्पन्न हो या न हो। इस प्रकार शरीर-धर्म के अनुसार सारा ही काम प्रजन होने पर भी जान-बूझ कर प्रजन-जैसा काम अत्यन्त कठिन बल्कि असंभव है। भोग करते समय की अवस्था योजकता की अपेक्षा कामुकता की, आत्म-वशता की अपेक्षा विकार-वशता की ही अधिक होती है, ऐसा कहें तो तो कोई हर्ज नहीं। आदर्श स्थिति से उसका मेल ही नहीं बैठता। सेवक तो जितेन्द्रिय ही होना चाहिए।

आदर और कामुकता में भी मेल बिठाना कठिन है। जिस व्यक्ति के प्रति हमें बहुत आदर मालूम होता है, उसके सम्बन्ध में हमारी कामुकता लुप्त होनी ही चाहिए। जैसे-जैसे प्रेम में आदर की मात्रा बढ़ेगी, वैसे-वैसे कामुकता की मात्रा कम होना अनिवार्य है। दाम्पत्य-प्रेम का अनुभव भी ऐसा ही है। सेवक के मन में व्यक्ति-मात्र के प्रति शुद्ध आदर ही होगा, इसलिए उसमें कामुकता सम्भव ही नहीं है।

यहाँ हमारा कर्त्तव्य आदर्श सेवक के सम्बन्ध में ही विचार करना है। यह प्रकट है कि वास्तविक सेवक कम-ज़्यादा मात्रा में आदर्श से दूर होगा, लेकिन इससे आदर्श में बाधा नहीं आती। काम-विकार तो सार्वजनिक सर्व-सामान्य है और "जो सामान्य है उसे विकृति क्यों कहें? उसे तो प्रकृति ही समझना चाहिए।" ऐसा कितने ही लोगों का कहना है। "तम्बाकू का व्यसन सार्वत्रिक है इससे यह निश्चित होता है कि वह मानवी जीवन की आवश्यकता है" ऐसा कहने जैसा ही यह है। यह ठीक है कि ब्रह्मचर्य-जीवन का उद्गम ही काम-वासना में से है; लेकिन इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि जीवन का उद्देश्य

ही कामोपभोग होना चाहिए। "यदि सब ब्रह्मचारी हो गये तो मनुष्य-जाति ही नष्ट हो जायगी, और कहना होगा मानों हमने ईश्वर के सृष्टि-क्रम को भंग कर दिया"—इस प्रकार का डर कितने ही लोगों को लगा रहता है। लेकिन यदि सब लोग ब्रह्मचारी हो गये और उससे मनुष्य-जाति निरवंश भी हो गई तो उससे बिगड़ेगा क्या? खुद ब्रह्मचारी का भी निरवंश होने से भला कितना नुकसान होता है? मनुष्य-जाति के अन्त से सृष्टि का लाभ होगा या हानि, यह कौन कह सकता है? और यह भी तो नहीं कह सकते कि यदि आज के मनुष्य निरवंश हो गये तो उतने से ही सारी सृष्टि निरवंश हो जायगी। फिर उलटे पहले ही की तरह जल्दी-जल्दी बन्दर के मनुष्य होने की गुंजायश क्यों कर नहीं रहेगी? बन्दर के मनुष्य बने कि बन्दर की जगह पीछे की योनि ले लेगी और यही क्रम आगे चलता रहेगा जिससे सम्पूर्ण योनियों की उत्क्रान्ति का मार्ग खुल जायगा। ऊँची कक्षा के विद्यार्थी उसी कक्षा में बने रहते हैं तो अपने साथ नीचे के विद्यार्थियों की भी प्रगति रोक देते हैं। ब्रह्मचर्य से मनुष्य-जाति नष्ट नहीं, बल्कि उत्तीर्ण होगी, मुक्त होगी।

व्यावहारिक ब्रह्मचर्य—यदि आदर्श ब्रह्मचर्य के विचार 'अव्यावहारिक' कह कर छोड़ दें तो भी सेवक को व्यावहारिक ब्रह्मचर्य अर्थात् संयम तो पालना ही चाहिए। सर्वांश में अर्थात् स्त्री-जाति के प्रति उसका व्यवहार उदात्त, आदरयुक्त और गम्भीर होगा। अपनी पत्नी के अतिरिक्त उसे सब स्त्रियाँ माँ-बहिन-जैसी ही लगेंगी। किसी भी व्यक्ति को उससे शंका या डर नहीं लगेगा। परस्त्रिया से इस प्रकार का निर्मल सम्बन्ध रखने की दृष्टि से स्व-पत्नी से भी उसका सम्बन्ध पहिले की अपेक्षा अधिक संयमी होना आवश्यक है।

जब हम यह कहते हैं कि आदर्श सेवक को ब्रह्मचारी होना चाहिए, तो यह प्रकट ही है कि वह ब्रह्मचर्य स्वयं-स्फूर्त होना चाहिए। जबर्दस्ती वासना का निग्रह करने में शोभा नहीं है, समाधान नहीं है, और सेवा

भी नहीं है। इसीलिए हजरत मुहम्मद ने जो गृहस्थाश्रम का ही समर्थन किया वह उस समय और देश की सामाजिक स्थिति के अनुरूप समझ कर ही किया।

यह भी ठीक नही है कि विवाह की इच्छा होने पर भी केवल काम की सुविधा की दृष्टि से या वैवाहिक जीवन के खर्च उठाने की असमर्थता से अविवाहित रहें। विवाह के द्वारा कार्यकर्त्ता को एक निकट का साथी मिलने से उसकी कार्य-शक्ति दूनी हो जाना भी सम्भव है। विवाह या अविवाह यह प्रश्न नहीं है—प्रश्न है भोग-वृत्ति या संयम-वृत्ति का। कठिनाई पत्नी-सम्बन्धी नहीं, वृत्ति-सम्बन्धी है। पत्नी सेवक के पैरो की वेड़ी होने की अपेक्षा उसका सहारा लेने की लकड़ी या जीवन-नौका की पतवार भी हो सकेगी।

यहाँ तक हम यही कल्पना करके चले कि सेवक पुरुष ही होता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल पुरुषो ने ही सेवा और ब्रह्मचर्य का ठेका ले रक्खा है। उपर्युक्त विवेचन सेविकाओं पर भी आवश्यक शाब्दिक फेरफार के साथ लागू होता है। इतना ही नहीं कि स्त्रियों को ब्रह्मचर्य का अधिकार है बल्कि उन्हें तो ब्रह्मचर्य-पालन अधिक सुसाध्य है ऐसा बहुत से समाजशास्त्रकारों का अभिप्राय दिखाई देता है। क्योंकि वे पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों पर अधिक कड़े निर्बंध डालते हैं और उनसे अधिक संयम की अपेक्षा करते हैं।

अस्वाद—अस्वाद-वृत्ति का ब्रह्मचर्य से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। 'जितंसर्वं जिते रसे'—जीभ जीत ली कि सब जीत लिया। इसी प्रकार आरोग्य और शक्ति से भी अस्वाद का निकट सम्बन्ध है। 'शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्'—शरीर धर्म-पालन का प्रथम साधन है। इसलिए सेवक को अपना शरीर नीरोग और कार्य करने योग्य रखने की काफी सावधानी रखनी चाहिए। इसके लिए उसे शरीर की अनेक तरह से चिन्ता रखनी ही चाहिए। लेकिन इसमें भी शरीर को उचित मात्रा में तथा उचित समय पर भोजन देते रहना विशेष महत्व

रखता है। ऐसी कर्त्तव्य-भावना और शास्त्रीय दृष्टि से ही सेवक अपने भोजन-पान का विचार करेगा। उसकी ऐसी रीति नहीं होगी कि जो मीठा लगे वह तो डटकर खाले और जो अच्छा न लगे उसे छोड़ दे। बल्कि जो शरीर के लिए पथ्य और आवश्यक है वही उचित मात्रा में लेता जायगा। और उसमें उसे सात्विक स्वाद भी काफी मिलेगा। अस्वाद का अर्थ स्वाद का अभाव नहीं बल्कि शुद्ध स्वाद है। स्वार्थ-त्याग का अर्थ जिस प्रकार स्वार्थ-विकास और उच्च स्वार्थ ही होता है उसी प्रकार अस्वाद का अर्थ उच्च सात्विक और आरोग्यदायक स्वाद ही होता है। ऐसे नीरोग मनुष्य को, जिसने अपनी रुचि बिगाड़ नहीं ली है, पथ्य ही स्वादिष्ट लगेगा और जो स्वादिष्ट लगेगा वही पथ्य होगा। जंगली पशुओं का यही हाल रहता है। केवल मनुष्य ने ही अपनी असली निरोगी प्रेरणा को बिगाड़ लिया है; इसी से स्वादिष्ट वस्तु और पथ्य में अन्तर हो गया है। मनुष्य की संगति से गाय, कुत्ते, बिल्ली, घोड़े इत्यादि प्राणियों की भी स्वादेन्द्रिय रोगी बन गई है और अनेक तरह के रोगों की बन आई है।

शराब, अफीम, गाँजा, तम्बाकू-जैसे घातक और घृणित पदार्थों का आदी हो जाने के कारण ये मनुष्य को अन्न से भी ज़्यादा प्रिय और आवश्यक मालूम होने लगते हैं, लेकिन यह स्पष्ट है कि आरोग्य के इच्छुक सेवक को ये सब बातें वर्ज्य समझनी चाहिएँ। चाय, मसाले व तीव्र स्वाद के और सब पदार्थ भी त्याज्य समझने चाहिएँ।

युक्ताहार की भाँति ही मिताहार का भी महत्व है, यह बात ऊपर के विवेचन से ध्यान में आ ही गई होगी। स्वाद-लोभ से शरीर की आवश्यकता से भी अधिक खाना एक प्रकार की चोरी ही है—विधाता ने वह अन्न दूसरे लोगों के पेट के लिए पैदा किया था और मैंने उसे छीन कर खा लिया, ऐसी ही यह बात लगती है। यह भी सेवक को शोभा नहीं देता।

सत्य व अहिंसा:—सेवा का उद्देश्य जीव-मात्र से ऐक्य का अनुभव करने की साधना करना ही है। इस ऐक्य के क्षेत्र की कोई मर्यादा नहीं है। 'जीव-मात्र से एकता' करने का आशय 'विश्व की एकता' से ही है। सेवक का प्रत्येक काम विश्व के लिए ही होना चाहिए इससे मर्यादित वृत्ति से किसी समूह के लिए जाति, वर्ग, प्रान्त, देश इत्यादि के लिए, उसी को सर्वस्व मानकर उद्योग करना, मानों उतने अंशों में इस उपास्यदेव से द्रोह करना है। क्षेत्र-मर्यादा के साथ ही-साथ निरपेक्षता में भी बाधा आ जाती है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि किसी मर्यादित समूह की सेवा करना मानों परस्पर सहकारिता-सेवा करने का ठहराव ही है। इसीलिए तो इस प्रकार की सेवा कुछ अंशों में स्वार्थ-पूर्ण रहती है। अपना और पराया इस प्रकार के भेद की कल्पना करके जब विचार होता है कि अपने को किसी न किसी तरह लाभ पहुँचावे तो फिर उसके लिए भले-बुरे साधनों का—असत्य, हिंसा, इत्यादि का आश्रय लेना स्वाभाविक हो जाता है। लेकिन आदर्श सेवक ऐसे किन्हीं भी मर्यादित समूहों का सेवक नहीं, वह तो विश्व सेवक है। ऐसे सेवक के लिए ही 'गीता' का उपदेश है:—

जो जो खाओ, करो, होमो तथा जो तप आचरो।
दोगे जो दान इत्यादि करो सो मम अर्पण॥

'मम' का अर्थ है परमेश्वर को। शुद्ध सेवा का अर्थ है—ईश्वरार्पण बुद्धि से, व्यक्तिगत ममता, मोह इत्यादि से अलिप्त रहकर किया हुआ कर्म। निर्मम, निर्मोह, और अनासक्त बुद्धि वाले सेवक का किसी को भी चकमा या धोखा देने का प्रयोजन नहीं रहता। धोखा देने का मतलब है, स्वयं को ही धोखा देना। वह समझता है कि ईश्वर को धोखा देने का प्रयत्न व्यर्थ है। ऐसा मनुष्य फिर हिंसा भी किसकी व क्यों करने लगा?

झूठ बोलना, असत्य आचरण करना, कपट धोखा, ये सब ऐक्यानुभव के मार्ग के बड़े-बड़े विघ्न हैं। मैं किसी से झूठ बोला नहीं कि मेरे

और उसके बीच में एक बड़ी खाई पड़ जाती है। उतने अंश तक खुद मेरा जीवन संकुचित बन जाता है। किसी को भी धोखा देने का अर्थ है उसके प्रति द्रोह करना और उससे द्रोह करने का ही अर्थ है आत्म-द्रोह।

बुद्धि की शुद्धता-सरलता सत्यनिष्ठा का ही एक भाग है। अपनी गलती स्वीकार करके उसे सुधारने की सेवक की तैयारी होनी चाहिए। हमने एक बार जो मत प्रकट किया, या प्रतिपादित किया और उसके अनुसार कार्य की नींव डाली बाद में उसके गलत मालूम हो जाने पर हमारा आज तक का काम निष्फल या हानिकर सिद्ध होगा और उससे हमारी बदनामी होकर आगे काम करना कठिन हो जायगा, इस भय से कार्य-कर्त्ता कई बार अपनी विचार-धारा और कार्य-पद्धति पर पुनर्विचार करने का साहस नहीं करता। परन्तु यह दुराग्रह अनर्थकारी सिद्ध होता है इसलिए सेवक को निराग्रही रहना चाहिए, उसकी प्रगति कभी नहीं रुकनी चाहिए। उसमें अपने स्वीकृत मार्ग को अनुभव और विचारों की कसौटी पर सदैव कसते रहने की दक्षता, गलतियाँ स्वीकार कर लेने की ईमानदारी और उसे सुधारने की क्षमता होनी चाहिए।

क्रोध, द्वेष, हिंसा आदि के कारण जीव-जीव में, आत्मा-आत्मा में परस्पर भेद पड़ जाता है। हिंसा का अर्थ है प्रति-आत्मा का अपमान। उससे अपनी ही आत्मा अपमानित होती है। ऐक्यानुभवी या ऐक्य का इच्छुक सेवक कभी स्वयं दूसरे को अपने से दूर नहीं धकेलेगा। इसलिए उसे किसी पर भी सख्ती या जबरदस्ती करना अथवा डरा कर कोई विशेष कार्य करवा लेना पसन्द ही नहीं आवेगा।

हिंसा को असत्य का आश्रय लेना ही पड़ता है। प्रतिपक्षी को धोखा न देकर, चकमा न देकर विश्वास में लेकर उसकी हिंसा करने की इच्छा रखने वाले को मूर्ख ही कहना होगा। अनासक्त सेवक की हिंसा और असत्य से अनबन ही रहती है। गांधी जी ने इस मुद्दे का विवेचन अपने 'अनासक्तियोग' की प्रस्तावना में अच्छी तरह किया है, उसे जिज्ञासु को अवश्य देखना चाहिए।

सत्याग्रह-आश्रम के व्रत—१६१४ ईसवी के प्रारंभ में गांधी जी ने अहमदाबाद के पास सत्याग्रह-आश्रम स्थापित किया। आश्रम का ध्येय देश-सेवा की शिक्षा देना था। कितने ही नियमों या व्रतों का अनुशीलन प्रमुख अभ्यास-क्रम स्वीकार किया गया था। सन् १६३० में यरवदा जेल से आश्रम-वासियों को सम्बोधित करके लिखे गये पत्रों में गांधी जी द्वारा इस व्रत का मननीय विवेचन किया गया है व वे पत्र पुस्तक-रूप में 'मंगल-प्रभात' के नाम से प्रकाशित हो गये हैं। श्री विनोबा भावे ने उन व्रतों के नाम निम्नलिखित सरल अनुष्टुप छन्द में गूँथ दिये हैं :—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय-वर्जन ॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना।
ही एकादश सेवा वीं नम्रत्वें व्रत-निश्चये ॥

पहले श्लोक में बताये व्रत और स्वदेशी व्रत सार्वत्रिक और सनातन-स्वरूप के हैं और सर्व-धर्म-समभाव तथा अस्पृश्यता-निवारण खास कर हिन्दुस्तान की वर्त्तमान स्थिति को लक्ष्य करके बताये गये हैं। जिसे देश-सेवा करनी है उसे ये गुण प्राप्त कर लेना ज़रूरी है। इस तरह की तैयारी के बिना प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा इत्यादि के लोभ से, ईर्ष्या से, दूसरों की देखा-देखी या वेकार बैठे रहना ठीक नहीं है, इसलिए जो देश के काम में उद्यत होता है उससे देश को बड़ा नुकसान पहुँचने का अंदेशा रहता है। केवल सेवा-वृत्ति की शिक्षा देने वाले विद्यालयों में एक विशेष अवधि के पाठ्य-क्रम और उसमें पास हो जाने वालों को प्रमाण-पत्र या पदवियाँ आदि देना न तो शक्य ही है न ज़रूरी ही। सेवक तो स्वयं शिक्षक ही होना चाहिए। यदि वह सत्प्रवृत्त और जाग्रत हुआ तो प्रत्यक्ष सेवा कार्य करते-करते ही, गलतियाँ करते-करते ही, अपनी शिक्षा पूरी कर लेगा। उस काम में उसे अधिक अनुभवी लोगों से समय-समय पर मार्ग-दर्शन भी मिल सकता है।

अभय—उपर्युक्त सामान्य व्रतों में से अभय और स्वदेशी के अतिरिक्त दूसरे सब व्रतों का विवेचन पहले हो ही चुका है। सेवक के लिए निर्भय वृत्ति का भी बहुत महत्व है। निर्भयता के बिना वह सेवा-मार्ग पर नहीं चल सकेगा। संसार में अन्याय और अज्ञान, अत्याचार और उसके सामने झुकने की हीन-वृत्ति गर्व और हीनता-भाव काफी मात्रा में है और सेवक को उनसे पद-पद पर लड़ना पड़ेगा। उपहास, लोक-निन्दा, वियोग, राज-भय, दारिद्रय इत्यादि से उसे डरना ही नहीं चाहिए। लेकिन जिनकी हम सेवा करते हैं उनकी मर्जी के खिलाफ भी उसे करने में हिचकना न चाहिए। अपनी मनःप्रेरणा को ही उसे सर्वोच्च सत्ता मानना चाहिए। अन्याय और अत्याचार के भी अनेक प्रकार या रूप होते हैं। रौब-दाब, अभिमान, बड़प्पन, शिष्टाचार, कुलीनता आदि के चमकीले आवरण में अनेक छोटे-छोटे अन्याय छिपे रहते हैं। इनमें सेवक को चौंधिया नहीं जाना चाहिए। उसे जो सेवा करनी है सो तो गरजमंद की, अनाथ की ही है। अत्याचारी की सेवा उसके रौब-दाब से डरकर या उसमें बहकर कभी नहीं करनी चाहिए। नहीं तो, हम चिथड़े वाले भिखारी को तो दुर्वचन कह कर चुंगल भर आटा दे देते हैं, लेकिन बड़े महन्तों या महाराजाओं की तड़क-भड़क देखकर उससे प्रभावित होकर उनके पैर पूजने लगते हैं और उनके लिए पानी की तरह पैसा बहाते हैं।

निर्भयता सारी नीतियों का आधार है। भीति और नीति में परस्पर विरोध है। डर या धाक से किये हुए सदाचार की नैतिक दृष्टि से एक कौड़ी भी कीमत नहीं। उससे तो कर्त्ता की अधोगति ही है। अपनी खुशी और प्रेम से किये हुए काम ही नैतिक दृष्टि से मूल्यवान और कर्त्ता के लिए उन्नति-प्रद होते हैं। इससे सेवक स्वतः भयवश होना छोड़ देगा, और दूसरों से भी डाँट-डपट के बल पर कोई भी काम कराने की इच्छा नहीं करेगा। इसी का नाम है अहिंसा।

स्वदेशी—घर के देवताओं को छोड़ कर काशी, प्रयाग भाग जाने की भूल अनेक कार्यकर्त्ताओं से होती रहती है। देश-सेवा के नगारे की आवाज़ के आगे पड़ौसी के दुःख की तूती उसे सुनाई नहीं देती। दूर वाले को पकड़ने जाने के लोभ में हाथ का भी छूट जाता है और दूर का तो दूर ही रह जाता है। अतः सेवक की दृष्टि तो विशाल होनी चाहिए, किन्तु उसका कार्य-क्रम निकटवर्त्ती ही होना चाहिए।

स्वदेशी का अर्थ स्वार्थ नहीं स्वधर्म, मनोयोग, अपना कर्त्तव्य-कर्म करना और अपने हिस्से में आये सुख-सुविधा में ही सन्तोष अनुभव करना है। यदि मैं कोंकण-निवासी हूँ तो मुझे मुनक्का के बजाय करोंदे, सेब के बजाय आम और खरबूजे के बजाय फूट को ही अपना मेवा समझना चाहिए। इसी तरह मुझे कोंकण के लिए, कोंकण-निवासियों के लिए, कोंकणी भाषा के लिए या अपने ही लिए कोई हीनता न अनुभव करके अभिमान या गौरव ही अनुभव करना चाहिए। किसी अच्छे घराने-ठिकाने के मनुष्य का होटल में जाकर चाय पीना व चाट खाना, नीच (मानी हुई) जाति के सुशिक्षित का अपनी जाति छिपाना, अपने सीधे-साधे या टेढ़े-मेढ़े नाम से लज्जा अनुभव करना, कालेज के युवक का अपने ग्रामीण पिता के कारण लज्जित होना, धनी व्यक्ति का अपने गरीब मित्र से, पड़ोसी से या भाई से, नाता तोड़ लेना, सुशिक्षित हिन्दुस्तानी भाई के लिए टूटी-फूटी अंग्रेज़ी, या अंग्रेज़ी-मिश्रित स्वभाषा बोलने में बड़प्पन अनुभव करना ये सब स्वदेशी-भंग के ही नमूने हैं।

इस प्रकार की बातों में अपने व अपनों के बारे में तिरस्कार, अनादर, शर्म, या अनास्था दिखाई देती है। यह आत्म-द्रोह है। गर्व या डींग हाँकने के जितना ही आत्म-अनादर भी त्याज्य है। यह ईश्वर का भी द्रोह है। उसमें अहंकार है। निरहंकारी मनुष्य वस्तुस्थिति को जैसी है वैसे ही स्वीकार कर लेने में नहीं हिचकता। क्योंकि वस्तुस्थिति उसके घर की या हाथ की चीज़ तो है नहीं।

वह भी दूसरों की तरह वस्तुस्थिति का एक दर्शक ही तो है। वह उस वस्तु-स्थिति को सुधारने का अवश्य प्रयत्न करेगा, लेकिन वह भी उतनी ही अलिप्त बुद्धि से जितनी से कि कोई डाक्टर रोगी के रोग को दूर करने का प्रयत्न करता है।

हम या हमारे लोग जैसे हैं उससे भिन्न या अधिक अच्छे दिखाने का प्रयत्न करना एक प्रकार का सत्यापलाप, सत्य छिपाने का प्रयत्न ही है। सेवक को अधिक अच्छा दिखाई देने का नहीं, अधिक अच्छा होने का प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार—यहाँ तक सेवक की साधन-संपत्ति का बहुत-कुछ विवेचन हुआ है। लेकिन कितना ही करें तो भी वह पूरा नहीं हो सकता। अब तक जिन सद्वृत्तियों का वर्णन किया गया है वे भी परस्पर स्वतंत्र नहीं हैं, बल्कि मूल सेवा-वृत्ति के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस सेवा-वृत्ति के प्रमुख लक्षण ईश्वर-शरणता, कार्य का निदिध्यास और आत्म-निरीक्षण है। समर्थ रामदास के कथनानुसारः—

पहिले हरि-कथा-निरूपण। दूसरे हाँ राजकारण।
तीसरे सावधानपन। सर्व में ही।



९

सेवक का निर्वाह

फुरसत वाले ही सेवा करें—सेवा का अर्थ है सार्वजनिक-कार्य। सार्वजनिक काम में लग जाने पर सेवक को अपनी घर-गृहस्थी के काम करने की फुरसत नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में वह अपना और अपने आश्रितों का योग-क्षेम किस प्रकार साधे ? इस पर कितने ही लोग उत्तर देते हैं कि "कार्य-कर्त्ता को पहिले इतना धन कमा लेना चाहिए कि निर्वाह की चिन्ता न रहे और बाद में ही सार्वजनिक कामों में पड़ना चाहिए। ऐसा करने से सेवक को पश्चात्ताप करने का मौका नहीं अयेगा। कुटुम्बियों की दुर्दशा नहीं होगी और खुद के लिए भी दूसरों के मुँह ताकने का मौका नहीं आयेगा। स्वामी रामदास ने भी कहा है कि "पहले साधो प्रपञ्च अच्छा।"

"इस प्रकार प्रपञ्च से निश्चिन्त होकर सार्वजनिक कार्यों में पड़ने से लोगों पर कार्य-कर्त्ता का अच्छा प्रभाव पड़ता है, उसकी निःस्वार्थता सिद्ध हाती है और उसके स्वाभिमान में भी बाधा नहीं आती; सार्वजनिक काम तो अवैतनिक करने से ही शोभा देते हैं। और इसके लिए किसी से दब कर रहने की भी जरूरत नहीं रहती।"

"इसलिए समझदार आदमी को सबसे पहिले अपना काम-धन्धा और घर-गृहस्थी ठीक जमा लेना चाहिए, व फिर शेष जीवन में फुरसत के अनुसार सार्वजनिक कार्य करना चाहिए।" इत्यादि।

ऊपर लिखी—"गेट आन, गेट आनर, गेट आनेस्ट" पहिले धन, फिर मान-सम्मान और अन्त में पुण्य—इसी स्वार्थी नीति के लिए

यह सलाह फबने जैसी ही है। यदि सार्वजनिक कार्यों का उद्देश्य प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, मान-बड़ाई इत्यादि प्राप्त करना हो तो उपर्युक्त सलाह बिल्कुल ठीक है। इसी के लिए सेवा कार्य के अर्थ में 'आनरेरी वर्क' या अवैतनिक कार्य-जैसा शब्द प्रयोग प्रचलित हो गया है।

सेवा को अग्रस्थान—परन्तु यदि सेवा-कार्य में मान-सम्मान प्राप्त करने की दृष्टि न हो और पारमार्थिक अर्थात् वास्तविक दृष्टि हो तो सेवक को अपने काम करने की उम्र और अपनी उत्तमोत्तम शक्ति सेवा कार्य के ही अर्पण करनी चाहिए। और यदि ऐसा करना हो तो फिर उसे अपनी घर गृहस्थी सँभालने की फुरसत ही नहीं रहेगी। अपने और समाज के बीच अभेद भाव ही तो सेवा-योग का आधार है। इसमें यह समाज का हित और यह हमारा गृह-प्रपञ्च इस प्रकार का भेद ही नहीं रहता।

निजी धन्धा, निजी कमाई और निजी मिल्कियत के कारण सेवक और समाज का नाता टूट जाता है। पहिले तो इस प्रकार का पार्थक्य या द्वैत भावना बना लेने और फिर वेतन न लेकर उपकार-भावना से सार्वजनिक कार्य करने से सेवा नहीं होती, उलटा अपकार ही होता है। अपने को श्रेष्ठ और सेव्य को कनिष्ठ बनाकर उस पर जो उपकार किया जाता है वह उपकृत के लिए अपमानास्पद और कष्टकर होता है। 'उपकार' का मूल अर्थ है 'पास लाना।' उपकार के द्वारा उपकर्त्ता और उपकृत का अन्तर कम होकर वे परस्पर निकट के जैसे हो जाने चाहिएँ। यदि उपकार इस ढङ्ग से किया जाय कि जिससे उपकार के द्वारा उपकृत आभारी बन कर या भार से दब कर हमसे दूर न चला जाय तभी वह सच्चा उपकार है। उपासना का अर्थ जिस प्रकार (ईश्वर के) पास जा बैठना है उसी प्रकार उपकार का अर्थ है दूसरे के निकटतम बन जायँ या ऐसा उपाय करें जिससे निकटतम हुआ जा सके। इसके विरुद्ध अपकार का अर्थ है—ऐसा व्यवहार जिससे दूसरा हमसे दूर हो जाय।

सारांश यह कि सेवक समाज पर झूठा उपकार करने की इच्छा नहीं रखता, अतः वह अभेद बुद्धि से अपनी सारी शक्ति लगा कर समाज के काम करेगा और ऐसा विश्वास रखेगा कि उसके बदले में समाज मेरे निर्वाह-योग्य मावजा जरूर देगा।

सेवक के तीन प्रकार—लेकिन यह तो सेवक की मनोवृत्ति का चित्र हुआ। उसका प्रत्यक्ष कार्य-क्रम और निर्वाह की प्रत्यक्ष व्यवस्था क्या होगी? प्रत्यक्ष कार्य की दृष्टि से सेवकों के तीन प्रकार कल्पित किये जा सकते हैं।

(१) *बैठे सेवक या नागरिक*—किसी न किसी पेशे के द्वारा समाज की सेवा करने वाले।

(२) *खड़े सेवक या सैनिक*—किसी भी प्रकार का निजी काम-धन्धा न करके केवल सार्वजनिक कार्य करने वाले।

(३) *स्वयंसेवक*—निर्वाह के लिए कोई निजी काम धन्धा करके फालतू समय में बिना वेतन सार्वजनिक कार्य करने वाले।

बैठी सेवा—साधारणतः सेवक के सम्बन्ध में हमारा यह ख्याल रहता है कि वह 'सोजिरा' की तरह समाज का एक फालतू घटक है। हमारी कल्पना में सार्वजनिक कार्यकर्ता सर्वसाधारण से भिन्न एक स्वतन्त्र वर्ग ही है। नागरिकों का कोई न कोई अपना उद्योग-धन्धा या पेशा होता है। लेकिन सेवक को कोई निजी काम-धन्धा न करते हुए लोगों के नेता या पुलिस के रूप में ऐसे संगठन, प्रचार, हलचल, लोक-शिक्षा और आपत्ति-निवारण आदि काम, जो साधारण काम से भिन्न हों, करने होते हैं।

मोटे रूप में हम ऐसा भेद किया करते हैं, यदि साधारण नागरिक एक गृहस्थ है तो सेवक एक यति है। नागरिक यदि प्रापंचिक, प्रपंच में फँसा हुआ है, तो सेवक पारमार्थिक है। नागरिक यदि बैठा हुआ कोई विशेष काम-धन्धा करने वाला है, तो सेवक चलता-फिरता और बंधनमुक्त होकर काम करने वाला है।

लेकिन नागरिक और सेवक, गृहस्थ और यति, प्रापंचिक और पारमार्थिक, बैठा और चलता-फिरता, जिम्मेदार और गैरजिम्मेदार-जैसे भेद भ्रामक हैं। सेवा तो मुख्यतः वृत्ति का प्रश्न है। प्रापंचिक स्वार्थी ही हो, या सेवक भटकने वाला हो ही ऐसी बात बिल्कुल नहीं है। प्रपंच और परमार्थ, धन्धा और सेवा इनका इस तरह नाता तोड़ देना हानिकारक है। जैसे धन्धा सेवाशील होना चाहिए उस प्रकार सेवा भी उद्यम-शील व जिम्मेदारी का भान कराने वाली ही होनी चाहिए। "पहले साधो प्रपंच अच्छा। फिर लो विवेक सच्चा।" इसका यही अर्थ है कि प्रपंच पारमार्थिक और परमार्थ प्रापंचिक होना चाहिए।

खेती, मज़दूरी, व्यापार, वकालत, वैद्यक, व्यक्तिगत या सरकारी नौकरी इनका सेवा वृत्ति से विरोध तो है ही नहीं, उलटे इन सब कामों का सेवा-वृत्ति से ही किया जाना इष्ट, उचित और आवश्यक है। यह बात नहीं है कि निजी काम-धन्धों की नीति, अनैतिक और स्वार्थ-मय होनी चाहिए। वह तो समाज-सेवा की ही होनी चाहिए। व्यापारी का काम ठग-विद्या से किसी तरह सम्पत्ति एकत्र करना नहीं है बल्कि ग्राहकों की उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ज़रूरी स्थानीय वस्तुओं का संग्रह करना, ज़रूरत हो तो दूसरे देशों से वस्तुएँ लाना और उनको उचित दर से ज़रूरत के माफिक ग्राहकों को देना ही है। उसी प्रकार अपने देश में आवश्यकता से अधिक पैदा होने वाली चीज़ों को उन प्रदेशों में भेजना जहाँ उनकी विशेष आवश्यकता हो, और इस तरह समाज के भरण-पोषण की व्यवस्था करना है। चमार का काम जूते की तल्ली में पुराना चमड़ा या चिन्दियाँ लगाकर ग्राहकों को ठगना नहीं, बल्कि नरम और टिकाऊ चमड़े का मजबूत और आरामदेह जूता तैयार करके देना और काँटे, कंकड़, पत्थर, ग्रीष्म की धूप या कड़ाके के जाड़े आदि से मनुष्यों की रक्षा करना ही है। बुनकर का काम ठंड दूर करने और आबरू बचाने के लिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं

के लायक अच्छे, नरम-गरम, मोटे-पतले, टिकाऊ कपड़े तैयार करके लोगों तक पहुँचाना है। पुलिस का काम लोगों का तंग करना नहीं, किन्तु लड़ाई-दंगे, चोरी, खून, बलवान का कमजोर पर अत्याचार आदि अनेक अनिष्टों को दूर करना है। इस प्रकार प्रत्येक धन्धा केवल निर्वाह या कमाई का ही साधन नहीं है, बल्कि समाज-सेवा का ही एक प्रकार है। ये सब धन्धे मानो श्रम-विभाग के द्वारा अपने-अपने तरीके से समाज की सेवा करने के ही अचूक मार्ग हैं। केवल लोगों की अनुचित माँगें पूरी करने वाले धन्धे उदाहरणार्थ—वेश्या-व्यवसाय, शराब-बिक्री, डाका, जुआ, इत्यादि निषिद्ध हैं। उसी तरह चोर हत्यारे आदि को पेशेवर कहना भी ठीक नहीं है। इस प्रकार के नीतिबाह्य धन्धों को छोड़कर शेष नीति-विहित धन्धे स्वार्थ-भावना से दूर रहकर शुद्ध समाज-सेवा की दृष्टि से चलाना शक्य और इष्ट है। आदर्श समाज में प्रत्येक कार्यक्षम स्त्री-पुरुष को इस तरह का कोई भी उपयुक्त काम सौंपा हुआ होगा और वह समाज-सेवा करने की दृष्टि से ही उसे तनमन से करता होगा। इस प्रकार की सेवा-भावना से धन्धा करने वाले सज्जन आज भी हर एक पेशे में मिल सकते हैं। और हम जानते ही हैं कि पूर्व काल में भी बुनकर, चमार, मेहतर, माली, कुम्हार, खटीक आदि पेशे वालों में, मजदूर स्त्रियों में भी अनेक जगद्वंद्य महात्मा और सन्त हो चुके हैं।

सरकारी नौकरों को भी 'सिविल सर्वेंट' या पब्लिक सर्वेंट अर्थात् समाज-सेवक यह संज्ञा दी गई है। आदर्श राज्य-व्यवस्था में यह सर्वथा यथार्थ भी है। यह बात दूसरी है कि हिन्दुस्तानियों को अनेक पीढ़ियों की गुलामी के कारण सरकार नामक संस्था के प्रति परायापन, अविश्वास व अनादर अनुभव होने लगा है। किन्तु सुचारु शासनपद्धति में सरकारी नौकरी-जैसा समाज-सेवा का दूसरा 'राजमार्ग' ही नहीं है।

निर्दोष उपजीविका—समाज के श्रम-विभाग की योजना में जिसने अपने हिस्से का काम अचूक और दूसरे को थोड़ा भी कष्ट न पहुँचाते

हुए किया वह कृतकृत्य हो गया, समाज से उऋण हो गया। उसे और समाज-सेवा, उपकार, दान, आदि करने की ज़रूरत नहीं रहती।

'निर्मल कर्में स्वदेह धारण। आदि सूत्र सेवा धर्मा चे।' यदि मैंने निर्मल, निर्दोष, निरुपद्रवी मार्ग से दूसरों का शोषण न करते हुए अपना पेट भर लिया तो काफ़ी है। फिर मेरे ऊपर किसी भी प्रकार के 'सम्मान्य' सेवा-कार्य करने की ज़िम्मेदारी नहीं रहती। इसके विरुद्ध कैसे भी भले-बुरे 'सुलभ' मार्ग से थोड़े परिश्रम से बहुत सी सम्पत्ति प्राप्त करके फ़ुरसत के समय अवैतनिक रूप से समाज का कार्य करना मानों शरीर पर कीचड़ चुपड़ कर फिर साबुन से धो डालने की तरह है यह बात पहिले एक बार हम देख ही चुके हैं।

काम का चुनाव—थोड़े श्रम से बहुत-सा धन कमाकर ला देने वाले मार्ग में इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न कुछ दोष, अन्याय, जुल्म, उपद्रव, शोषण आ ही जाते हैं। आदर्श स्थिति में सब प्रकार के उपयुक्त श्रम के एक मापदण्ड के लिए वेतन का भी एक ही मापदण्ड होगा। परन्तु आजकल इस सम्बन्ध में काफ़ी विषमता दिखाई देती है, अतः सेवाशील धन्धेदार ऐसा ही धन्धा चुनेगा जिसमें दूसरे का शोषण कम से कम हो। उसकी उस धन्धे को चलाने की पद्धति भी जितनी सम्भव होगी कम शोषक रहेगी। उदाहरणार्थ—स्थानीय तथा आवश्यक वस्तुओं के व्यापार में मुनाफा कम होता है, विदेशी व ऐश-आराम की चीजों में अधिक लाभ होता है। बीमा एजेण्ट थोड़े ही परिश्रम से बहुत कमा लेते हैं, और सरकारी नौकर को २५ - ३० वर्ष नौकरी करने के बाद घर बैठे पेंशन मिलती है। लेकिन किसान को ६० वर्षों तक खेतों में परिश्रम करने पर भी आगामी वर्षा के लिए हल चलाये बिना उसकी पेट-भराई नहीं होती। ऐसी आर्थिक विषमता की, खींचातान की और होड़ाहोड़ की परिस्थिति में सेवाशील पेशेवर अपनी योग्यता के अनुसार अधिक से अधिक निर्दोष धन्धा चुनेगा और

उसका श्रेष्ठ कर्तव्य तो है परस्पर सहयोग के द्वारा आत्म-विकास करना। परन्तु आज उसकी उपेक्षा हो रही है। जैसे-जैसे इस श्रेष्ठ कर्तव्य को प्रधानता मिलती जायगी वैसे-वैसे हर प्रकार की समाज-सेवा के क्षेत्र सरकारी कर्तव्य-सीमा में आते जायँगे और सरकार ही एक व्यापक कार्यक्रम, व पक्षपातहीन केन्द्रीय समाज-सेवा-संघ के रूप में बदल जायगी। लेकिन आज-कल सरकार की इस विषय की शक्ति मर्यादित होने के कारण निजी संस्थाओं और व्यक्तियों को समाज-सेवा और सुधार के हर प्रकार के काम अपनी-अपनी रुचि, क्षमता, शक्ति और साधन के अनुसार अपने जिम्मे लेकर चलाने पड़ते हैं। सरकारी विभाग की अपेक्षा ऐसे निजी प्रयत्न में हार्दिकता, निष्ठा, सहकारिता, कार्य-कुशलता, कम खर्च, दीर्घसूत्रता से मुक्ति आदि गुण अधिक सिद्ध होते हैं; परन्तु दूसरी ओर व्यापक व सर्वस्पर्शी योजना, एकसूत्रता आदि लाभों से वंचित रह जाते हैं।

खड़े सेवक और आजीविका का प्रश्न—यद्यपि यह ठीक है कि काम-धन्धे वाले नागरिकों को अपने-अपने काम-धन्धे, समाज-सेवा के उद्देश्य से चलाना चाहिए तथापि सब लोग ऐसा नहीं करते हैं। इसी कारण समाज-सेवा का भार उठाने वाले और अपनी खुद की आजीविका के लिए निजी काम-धन्धा न करने वाले सेवा-वृत्ति वाले (याने सेवा ही जिनकी वृत्ति अर्थात् निर्वाह का साधन है।) खास सेवकों की समाज को आवश्यकता रहती है। यही वे हमारे चरित्र-नायक, विशेषतः खड़े सेवक हैं जिनका चरित्र-चित्रण अब तक हमने किया है।

अब हमारे इस बेचारे नायक के सामने मुख्य प्रश्न आता है पेट भरने का। माना कि हमारे नायक का रहन-सहन सादा होगा, उसकी आवश्यकताएँ कम होंगी, वह फक्कड़ भी होगा लेकिन फिर भी उसके सामने दाल-रोटी का सवाल होगा ही। उसका क्या उपाय?

इस प्रश्न का पहले ही और सर्व-सामान्य उत्तर देना असम्भव है—और अनावश्यक भी है क्योंकि जिस प्रकार बिल में से चींटियों

की पंक्ति एकाएक शुरू हो जाती है उसी प्रकार ऐसे सेवकों का कहीं पर एकाएक कोई झुण्ड खड़ा हो गया है और उनके भोजन-पान का तथा भोजन के लिए बड़े-बड़े हंडों का प्रश्न उपस्थित होने वाला हो, ऐसी स्थिति नहीं है। विशेष मौके पर विशेष स्थान और विशेष कार्य के लिए एक दो या थोड़े से ही आदमी सेवा करने के लिए आगे बढ़ते हैं। यह मानकर चलने में कोई हर्ज नहीं कि उस परिस्थिति के अनुसार ही उनकी व्यवस्था अवश्य हो जायगी। इस पर भी यदि उसे कभी भूखों रहने, या ठंड में ठिठुरने का मौका आया तो वह उसकी चिन्ता नहीं करेगा। यह बात थोड़े ही है कि प्रापंचिक और धनवान के लिए भी कभी-कभी ऐसे मौके नहीं आते।

सेवक की कसौटी—ऐसे मौके सेवक की निष्ठा की कसौटी हैं। भला समाज यदि सच्चे झूठे की पहिचान किये बिना ही अपने को सेवक कहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पाँचों पकवान परोसने लगे तो यह कैसे बनेगा? समाज में तो पहिले से ही इतनी श्रद्धालुता मौजूद है कि उससे अनेक ढोंगियों की खूब बन जाती है। यह बिल्कुल अनुचित नहीं है कि इस ढोंगबाजी से ठोकर खाकर लोग पहिले विवेकी बनें और सेवा के सिक्के की पहिचान कर लें। ऐसी परीक्षा समाज की ही तरह सेवक के लिए भी श्रेयस्कर सिद्ध हुए बिना नहीं रहती। जिस प्रकार अन्य विभागों में पहिले उम्मीदवारी या तपस्या करनी पड़ती है, वैसे ही वह सेवा-विभाग में भी करनी पड़े तो इससे कोई आश्चर्य नहीं; बल्कि यदि न करनी पड़े तो उसे ही आश्चर्यजनक कहना चाहिए और बिना परीक्षा ही मिले हुए प्रमाणपत्र से सेवक को डरना चाहिए।

परीक्षा कितने ही समय तक क्यों न चले और मान्यता मिलने में कितना ही विलम्ब क्यों न हो, कार्यार्थी सेवक उसमें हानि नहीं मानता। भर्तृहरि के कथनानुसार—

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनम्
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखन्न च सुखम्॥

अथवा

भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः।
योयं विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते॥

आस्तिकों को अन्न-वस्त्र की चिन्ता न करनी चाहिए। सारे संसार का भरण-पोषण करने वाला ईश्वर क्या अपने भक्तों की ही उपेक्षा करेगा?

न भूलें कभी रामदासाभिमानी।—रामदास

वैसा ही उपदेश ईसा का भी है (ल्यूक अध्याय १२-२४) "कौवों की तरफ देखो, वे बोना, काटना, समेटना कुछ भी नहीं करते। फिर भी ईश्वर उन्हें खाने को देता है। क्या तुम्हारी कीमत उनसे कितनी ही गुना अधिक नहीं है?"

देखो, वे कमल कैसे खिलते हैं। वे न सूत कातते हैं, न श्रम करते हैं। लेकिन उनके जैसी पोशाक बादशाह को भी नहीं मिलती। जहाँ तुमने दैवी राज्य और दैवी न्याय प्राप्त कर लिया फिर बाकी सब वस्तुएँ तुम्हारे पास अपने आप चली आयँगी।

गीताः—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाःपर्युपासते
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्

और तुकाराम महाराजः—

भजता तू क्यों न? देव जो कृपाल,
पोसता संसार अकेला ही॥
उसने क्या तेरी नहीं चिन्ता करी।
कर सदा स्मृति अनंत की॥

सेवक का अत्याचार—सेवक अपने अन्न-वस्त्र के सम्बन्ध में भले ही निश्चिन्त रहे लेकिन एक दूसरी बात की चिन्ता करना उसके लिए आवश्यक है। वह इस प्रकार है :—

सेवक अपनी व्यक्ति-विशिष्ट (Subjective) कल्पना, प्रेरणा या आकांक्षा के अनुसार ही किसी विशेष कार्य में प्रवृत्त होता है। और काम में अपना तन-मन-धन लगा देता है। उसके मन में यह बात बैठ जाती है कि उसी एक बात की समाज या संसार को जरूरत है। लेकिन संभव है, यह उसका भ्रम हो, या उसके विचार ऐकान्तिक हों। समाज को उस बात का उतना महत्व अनुभव न होगा, या वह बात ही उलटे उसे अनिष्ट या हानिकारक मालूम होगी; सेवक समाज को अपना शत्रु-जैसा लगेगा। इसमें समाज की गलती है या सेवक की, यह तो समय ही बतायेगा। समय का निर्णय प्रकट होने तक सेवक और समाज में यह अनबन रहेगी। इसमें कहीं अपना पक्ष गलत न हो, इसी बात की सावधानी सेवक को रखनी चाहिए। सेवक के द्वारा सोची हुई बात समाज के लिए हानिकारक भी हो सकती है। अथवा यदि वह मूलतः इष्ट भी हो तो उसका उतना महत्त्व नहीं भी हो; उसका समय अभी न आया हो। शायद कुछ समय बाद उसकी आवश्यकता महसूस हो लेकिन आज ही उसके लिए आग्रह करना अप्रासंगिक अतएव हानिकारक होगा। ऐसी स्थिति में समाज सेवक की उपेक्षा ही नहीं यदि विरोध भी करे तो सेवक को शिकायत नहीं करनी चाहिए। बल्कि इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि कहीं हम ही तो समाज पर कोई अत्याचार नहीं कर रहे हैं। और जरूरत मालूम हो तो अपने कार्य-क्रम में उचित सुधार कर लेना चाहिए।

"यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं ना चरणीयं नो करणीयम्।"

"अच्छी बात भी इस तरह से मत करो जो लोगों को सुहाती न हो।" (शंकराचार्य, चर्पट-मंजरिका) हो सकता है कि हमारी सेवा और सुधार में भी कुछ अंशों में ज्यादती हो। जिस प्रकार विद्यार्थियों

की जल्दी प्रगति करने के लिए शिक्षक का उन पर ज़्यादती करना ठीक नहीं है उसी प्रकार सेवक को भी समाज के ऊपर अपने विचार व कार्य-क्रम लादने का दुराग्रह नहीं करना चाहिए। उसके स्वयं के तन-मन-धन पर समाज का स्वामित्व है और वह वस्तु उसको समाज की धरोहर के रूप में मिली है; उसे उसका उपयोग समाज की भलाई के लिए ही नहीं, बल्कि उसकी अनुमति से ही करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यदि उसने "परोपकारी राज्य" (बेनोवेलेण्ट डेस्पाटिज़्म) चलाना भी प्रारम्भ किया तो लोग उसे दंड देने के लिए तैयार हो जायँगे। कम-से-कम उसके राज्य से असहयोग कर देंगे।

संस्था की आवश्यकता—किसी भी संस्था को व्यक्तिगत योजना या केवल अपनी ही जवाबदेही पर चलाने की अपेक्षा किसी संघ की स्थापना करके उसके द्वारा चलाने से अपने व्यक्तिगत विचारों में यदि एकांगीपन या ऐकान्तिकता हो तो अधिकांश में वह ठीक हो सकेगी। इससे जनता के द्वारा भी उसकी योजना को बहुत मान्यता मिलेगी। संस्था के घटकों का सहयोग भी उसे मिलेगा और संस्था के द्वारा सेवक के निर्वाह का प्रश्न भी सरलता से हल हो सकेगा। यों भी सेवक अकेले ही कोई काम पूरा नहीं कर सकता; काम को सफल बनाने के लिए उसे दूसरों की मदद लेनी ही पड़ती है। सेवक को पहिले अपने विचार कुछ चुने हुए लोगों के सामने रखकर और उनके विचार सुनकर उन सब के नहीं तो कुछ लोगों के ही एक मत या सहयोग से वह काम करना पड़ता है। अर्थात् उसे एक समय कामचलाऊ संघ बनाना पड़ता है। उसकी अपेक्षा पहिले से ही बनी हुई संस्था और केवल वही नहीं बल्कि और भी उसी तरह के काम अधिक व्यापकता और सफलतापूर्वक करनेवाले संघ या संस्था में सम्मिलित होकर उसके अधीन काम करना अनेक दृष्टियों से लाभदायक और सुविधाजनक हो सकता है। सेवक को संस्था की प्रतिष्ठा का, संगठन का और साधनों का, अनुभव का और मार्ग-दर्शन का लाभ मिलता है और उसकी

कार्य-क्षमता कितने ही गुना बढ़ जाती है। 'संघे शक्तिः कलौयुगे।'—इस कलियुग में संगठन में ही सामर्थ्य-बल है।

संस्था की मर्यादा—फिर भी यह बात नहीं है कि सब जगह या सभी समय, सभी सेवकों को व सभी कार्यों के लिए संघ या संस्था का आधार मिल जाता है। संस्था मानों एक प्रकार की छोटी सरकार ही है। सरकार की ही भाँति संस्था में भी उसकी व्यापकता और विस्तार के अनुसार कुछ कठिनता, निश्चित रीति-नीति, अथवा पद्धति का महत्व, दीर्घ-सूत्रीपन, केन्द्र-प्रधानता आदि अनिवार्य हो जाते हैं। इस कारण सरकार की ही भाँति स्थायी संस्थाएँ भी विशेष उत्कटता से करने के कामों का बोझ नहीं उठा सकतीं। उसी तरह सरकार का काम-काज बड़े व सामुदायिक परिमाण में चलाना पड़ता है, इसलिए स्थानीय या छोटे-छोटे या तात्कालिक काम उसकी पहुँच के बाहर होते हैं। फिर महान् संस्था भी छोटे से क्षेत्र या काम तक नहीं पहुँच सकती। ऐसी स्थिति में सेवक के लिए अकेले ही—मौका पड़ने पर जितने मिलें उतने सहकारियों के साथ व सहयोग से—काम चला लेना ही उचित है।

वेतन और अनुशासन—संस्था के अन्तर्गत काम करते हुए यदि संस्था दे सके तो सेवक को आवश्यक वेतन लेते रहना चाहिए। ऐसा करने में उसे कोई निम्नता या हीनता अनुभव नहीं करना चाहिए। और न बन्धन में ही पड़ जाने के भय से वेतन लेना बन्द कर देना चाहिए। यदि वास्तव में देखें तो वेतन लेने से बन्धन बढ़ता नहीं है: क्योंकि अवैतनिक कार्यकर्ता के लिए भी वैतनिक कार्यकर्ता की ही तरह अनुशासन में काम करना आवश्यक है। अवैतनिक काम को बिना उत्तरदायित्व का काम, मन में आया तो किया नहीं तो नहीं—ऐसा कितने ही स्वयंसेवक मानते हुए दिखाई देते हैं। लेकिन यह वृत्ति गलत है और काम के लिए विघातक है। सार्वजनिक कामों में पड़ने वाले लोग अधिकांश में स्वतन्त्र वृत्ति वाले होते हैं। 'किसी की गुलामी न

करने' की ही भावना से वे सरकारी या खानगी नौकरी जैसे अधिक आमदनी के मार्ग छोड़ देते हैं। "निःस्वार्थ भाव से अंगीकृत सेवा कार्य में भी तावेदारी मंजूर करनी पड़ती है"—यह बात उन्हें नहीं जँचती। लेकिन ऐसे कार्यकर्ता छुटभय्ये सैनिक ही बनकर रह जायँगे। उनसे कोई चिरस्थायी या महान् कार्य नहीं हो सकेगा। किसी विशेष विशेष मौके पर उनका भी उपयोग होता रहेगा; लेकिन कोई भी अस्थायी, व्यापक और संगठित शक्ति साध्य करना हो तो उसके लिए उसके बन्धन भी स्वीकार करने ही पड़ते हैं। सारांश यह कि सेवक को अपने काम के बदले सीधा वेतन लेनें में संकोच नहीं करना चाहिए। सेवक को वेतन मिलना और सेवक का उसे लेना बिलकुल उचित ही है। वेतन लेने से यदि सेवा कार्य अधिक नियमबद्ध हो, उसमें अधिक स्थिरता व एकाग्रता आवे तो वह इष्ट ही है। क्योंकि सेवक के लिए काम की सफलता की दृष्टि से अपने कार्यक्रम की स्पष्ट मर्यादा बना लेना वाञ्छनीय है। नहीं तो उसकी शक्ति का ह्रास और खींचातानी करने वाले अनेक काम हमेशा पैदा होते रहेंगे। और प्रत्येक काम के पीछे पड़ने से कोई एक भी सफल न हो सकेगा। इस सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम बना देना सम्भव नहीं है। कार्यकर्ता को अपनी शक्ति, पात्रता, झुकाव, परिस्थिति, या साधनों की अनुकूलता व प्रतिकूलता, अपने सहयोगियों की संख्या और शक्ति व उन कामों की इष्टता व शक्यता, आवश्यकता या तुरन्तता आदि के तारतम्य पर विचार करके ही अपनी अपनी सीमा निश्चित करनी चाहिए।

वेतन के साथ साथ मत्सर—वेतन लेकर काम करने में सेवक की जो अरुचि रहती है इसके और भी कारण हो सकते हैं। कुछ सेवकों को यह कठिनाई महसूस होती है कि वेतन लेने से हमारी निःस्वार्थ भावना में बाधा पड़ेगी और स्वार्थ-त्याग दिखे बिना लोगों पर हमारी छाप नहीं बैठेगी और न हमारे काम को ही समर्थन—सहयोग मिलेगा। कुछ अंशों में यह बात ठीक भी है। दरिद्र, बुभुक्षित,

पुरुषार्थहीन और परतन्त्र जनता में नौकरी के लिए बहुत उत्कण्ठा और स्पर्धा रहती है। सेवक को भी नौकरी मिल जाने से लोगों के मन में ईर्ष्या होती है और उसके प्रति आदर व सद्भाव और उसके काम में भरसक मदद करने की वृत्ति लुप्त हो जाती है; इतना ही नहीं, समय-समय पर तिरस्कार और विरोध की भावना भी उत्पन्न होती है। जनता की इस कृपण वृत्ति का परिणाम कच्चे दिल के सेवक पर होना स्वाभाविक है। लोगों के ऐसे अपमानजनक व तुच्छ वचन सुनकर अनेक युवकों व उदीयमान सेवकों का दिल खट्टा हो जाता है और वे सदा के लिए सेवा-कार्य छोड़ देते हैं।

परन्तु समाज सेवकों का स्वामी है। वह बहुमुखी और बहुरूपी स्वामी है। नौकर को कठोर बात कहने का अधिकार स्वामी को होता है, ऐसा सोचकर सेवक को अपना मन अविचलित रखना चाहिए। उसे केवल अपने ही मन की जाँच करते रहना है। कहीं हमने अपने पेट के लिए तो सेवा का वेष नहीं बनाया है? हम अपना काम तो तत्परता से कर रहे हैं न? उस स्थान और उस काम के लिए तैयार तथा अपने से ज्यादा योग्य व्यक्तियों को एक ओर हटा कर तो कहीं मैंने वह स्थान प्राप्त नहीं किया है? अपनी वास्तविक आवश्यकता से—निदान बाजार भाव से—अधिक वेतन तो नहीं ले रहे हैं न? इन तथा ऐसे ही प्रश्नों पर सेवक को विचार करते रहना चाहिए। और यदि अपने अन्दर किसी प्रकार की सुस्ती, मिथ्याचार आदि न दिखाई दे तो जनता की निन्दा-स्तुति की उपेक्षा तो नहीं परन्तु उससे निश्चिन्त अवश्य रहना चाहिए। हमें विश्वास होना चाहिए कि यदि हमारी निष्ठा सच्ची है तो जनता आज नहीं तो कल अवश्य हमारा आदर करेगी। निःस्वार्थ कार्यों का बार-बार अनुभव आने से बल्कि उलटे ढोंगी स्वार्थ का अक्सर अनुभव होते रहने से लोगों का स्वभाव ही शक्की हो जाता है। लेकिन ज्योंही सेवक एक बार जनता की कसौटी पर खरा उतरा कि फिर आगे उसे जनता से हर घड़ी प्रोत्साहन, सद्भावना

उदारता, वात्सल्य, आदर आदि मिलते रहते हैं। उससे उलटा सेवक ही लज्जित या आभारी होता है और लोगों के इस अकारण वात्सल्य के योग्य बनने की उत्सुकता उसमें पैदा होती है। जैसे-जैसे उसकी सेवा-वृत्ति, लगन, तत्परता, नम्रता, कृतज्ञता, और आत्मसमर्पण की उत्कण्ठा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे जनता भी अधिकाधिक उसके अधीन होती जाती है और 'जनता मेरी' व 'मैं जनता का' व इसके उल्टे 'हमारा सेवक' और 'हम सेवक के' इस प्रकार का अभेदभाव दृढ़ होता जाता है। जैसे-जैसे सेवक जनता के द्वारा लालित, पालित व पोषित अपना शरीर जनता की सेवा में खपाकर, अर्पण कर मुक्त होने के लिए उत्सुक होता है वैसे-वैसे जनता-माता भी सेवक के जरा से दुखी होते ही व्याकुल हो जाती है। इस प्रकार प्रवेश-परीक्षा लेकर जहाँ उसने एक बार अपने हाजिरी-पत्रक में उसका नाम लिख लिया कि फिर जनता ही उसकी भावी प्रगति की चिन्ता करने लग जाती है।

अहंकार—*यदि सेवकों को अपने काम के बदले वेतन लेते* हुए संकोच अनुभव हो तो उसमें अहंकार का अंश हो सकता है। एक स्वयंसेवक के नाते मैं परोसने का, कुली का, या भंगी का भी काम करूँगा—बड़ी-बड़ी सभाओं व सम्मेलनों के मौकों पर अनेक उत्साही कार्यकर्ता, हर प्रकार के काम एक दूसरे से बढ़कर करते हैं—ऐसे काम के लिए सफर-खर्च, वर्दी, भोजन, नई-नई बातें देखने के मौके आदि रूपों में वेतन लेना मुझे बुरा नहीं लगता। बल्कि मैं उसे लेना आवश्यक भी समझता हूँ। इसके बिना स्वयंसेवक दल में काम करने की मेरी स्थिति नहीं होती है। तथापि यदि मैंने किसी मेहमान का बोझा उठाया और उसने उसके बदले मेरे हाथ पर दो आने निकाल कर रख दिये तो मेरा हाथ उसके श्रीमुख पर पड़े बिना न रहेगा। जो स्वयंसेवक बनकर भंगी का काम करने में अभिमान अनुभव करते हैं उन्हीं को वैतनिक भंगी बन कर काम करना बड़ा अपमानजनक लगेगा। क्योंकि भले ही वह यह कहता हो कि भंगी का काम पवित्र

है तो भी वह केवल दिखावे के लिए ही होता है। वही कार्यकर्ता एक पेशे के तौर पर उस पवित्र भंगी-काम को करने के बजाय अपवित्र वकालत करना ही ज़्यादा पसन्द करेगा।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि समाजोपयोगी व जीवन के लिए आवश्यक कामों का अर्थात् निरुपद्रवी, निर्दोष बल्कि पवित्र कामों का मावज़ा लेने में हमें जो हीनता अनुभव होती है उसके मूल में कुछ न कुछ अहंकार अवश्य है। फिर भी इस प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है जो विचार करने योग्य है।

मुआवज़े का निषेध—कुछ आवश्यक व मूलतः निर्दोष कामों को भी मुआवजा लेकर करना समाज ने बुरा माना है। उसमें समाज का दीर्घानुभव तथा दूरदर्शिता ही समाविष्ट है। जैसे मुर्दों को जलाना या दफनाना इष्ट व आवश्यक है। इसका यह अर्थ हुआ कि उस काम में मदद करना भी अभिनन्दनी है। पर यदि ऐसे स्तुत्य काम का उचित मुआवजा लिया जाय तो उसमें क्या हानि है? लेकिन समाज ने ऐसे पवित्र काम का मुआवजा लेने का तीव्र निषेध किया है। उसके लिए वैसा ही भारी कारण होना चाहिए।

मुर्दे को उठाकर ले जाना मूलतः निर्दोष हो तो भी उसके बदले में कुछ लेने का रिवाज या आदत पड़ जाना अत्यन्त अनिष्ट है। रिवाज बन जाने से मुआवजा लेने व देने की अपेक्षा उत्पन्न होगी। इससे निर्धन, जो पहिले से ही दुःखी और कष्ट में है, बड़ी कठिनाई में पड़ जायगा और उसके घर से मुर्दे को उठा कर ले जाना एक कठिन काम हो बैठेगा अथवा शव-वाहन कुछ लोगों का एक धन्धा ही हो जायगा। मृत्यु-संख्या जहाँ बढ़ी कि उनका धन्धा चमकने लगेगा और जहाँ मृत्यु होना कम हुआ तो उलटे बेकार रहने और भूखों मरने का मौका आ जायगा। अतः ये पेशेवर लोग ईश्वर से यही मनाया करेंगे कि गाँव में रोग का दौरा आता ही रहे। किन्तु तब

मुर्दे-फराशी के धन्धे को सम्माननीय कैसे कहेंगे ? अर्थात् मुआवजा न लेने का बन्धन स्वीकारने पर ही ऐसे काम सम्माननीय हो सकेंगे।

कर्म की गति विचित्र है। मीठे पानी के प्रवाह का अन्त खारे समुद्र में होता है। कभी-कभी पवित्र काम में भी बड़े पैमाने पर या बार-बार करने से दोष उत्पन्न हो जाते हैं। परोपकारक काम भी कहीं अपवित्र धन्धे का रूप न ले लें इसलिए समाज की सहज-बुद्धि ने आपत्ति के समय पर किये जाने वाले सेवा-कार्य का मुआवजा न लेने का कड़ा नियम बना दिया है। उदाहरणार्थ—पुराने वैद्य रोगियों से दवा के दाम और कोई फ़ीस नहीं लेते थे। रोगी को दवा का नाम भी नहीं बताते थे। तब आजकल की फार्मेसी (अर्थात् रोग-प्रसारक संस्था ?) के अनुसार वे विज्ञापनों पर इतना रुपया कहाँ से खर्च करेंगे ? जिस प्रकार हम मराठी में 'औषध-पाणी' कहते हैं उसी प्रकार उर्दू में 'दवा-दारू' शब्द है। दारू (शराब) एक अक्सीर दवा है। पहिले-पहल दवा के रूप में ही उसकी खोज हुई होगी। लेकिन आज इस दारू की ही दवा मिलना कठिन हो गया है। इस्लाम में उधार पर व्याज लेना मना है। गरजमन्द को कर्ज दो, उससे मूलधन को ही वापिस लेने की अपेक्षा रखो, लेकिन व्याज लेने की इच्छा मत करो; यदि कर्जदार खुशी से भी दे तो मत लो। नहीं तो गरजमन्द को लाभ पहुँचाने के बजाय बे-गर्ज लोगों पर भी कर्ज लादकर उसे साबित निगल जाने का दीर्घ उद्योग बड़ी सफलता से चलते हुए क्या हम कम देखते हैं ?

राँधा हुआ अन्न न बेचना चाहिए, गोरस न बेचना चाहिए; इस प्रकार के भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुरूप बनाये अनेक नियम-निषेध पाये जाते हैं।

निषेध का सारासार—इस प्रकार किसी विशेष काम को बिना मुआवजे के ही करने की इस योजना के ठीक होने पर भी दूसरे वे काम जिन्हें हम चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे लिए प्रेम के कारण ही नहीं

बल्कि मूल्य लेकर करें, उन कामों को दूसरों के लिए भी मूल्य लेकर करने में हमें हीनता मानना अनुचित है। उसका यह अर्थ होता है कि मैं ऊँची श्रेणी का। जो काम मेरे जीवन के लिए आवश्यक है किन्तु जिन्हें करना मेरे बड़प्पन को शोभा नहीं देता उनको मेरे खातिर करने के लिए दयालु परमात्मा ने दूसरे नीचे दर्जे के लोग पैदा किये हैं। इससे अधिक पाखण्ड और क्या हो सकता है?

सेवक को ऐसे अहंकार और पाखण्ड से मुक्त रहना चाहिए। और किसी भी उपयोगी और नीति-विहित काम को करके वेतन लेने में कदापि हीनता न मानना चाहिए। बल्कि उलटे ऐसे काम को वेतन लेकर करना लोक-शिक्षा का एक अचूक उपाय समझना चाहिए।

उसी प्रकार जो काम हमें मूल्य लेकर भी दूसरों के लिए नहीं करने चाहिएँ वे हमें भी दूसरे को मुआवजा देकर नहीं करवाना चाहिए। वैसा करने का अर्थ है दूसरे से गुलाम-जैसा व्यवहार करना। समाज के जिस विशेष वर्ग का मैं घटक हूँ वह यदि ऐसे काम दूसरों से करवाता है तो उस अन्याय के—अथवा खासकर अपमान के—परिमार्जन के लिए मुझे ही अपने वर्ग वालों के लिए वह काम करना उचित है और उसके लिए स्ववर्गियों से वेतन लेने में भी कोई हर्ज नहीं है; जैसे भंगी लोगों को अपना काम आज कल जितनी घृणित रीति से करना पड़ता है वह मनुष्यता को शोभा नहीं देती। अतः निषेध के योग्य है। उस काम को करने के लिए भंगियों का तैयार रहना जितना अनुचित है उतना ही हमारा उनसे वह काम कराना भी अनुचित है। यदि वे करने के लिए तैयार हों तो भी हमें उन्हें वह नहीं करने देना चाहिए। उस पद्धति की घृणितता दूर करना सम्भव भी है और आवश्यक भी है। उसमें से घृणतता निकल जाने पर निंद्यता भी निकल जायगी। वैसा सुधार करने के लिए तथा उसके होने तक खुद हमें ही वह काम करना तथा उसके लिए अपने लोगों से वेतन लेना उचित है।

वेतन की मर्यादा—अभी तक हमने जो विवेचन किया है उससे यह स्पष्ट हो गया है कि यदि संस्था सम्पन्न हो तो सेवक को उससे वेतन अवश्य लेना चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि तनख्वाह कितनी हो? इस सम्बन्ध में कुछ साधारण नियम ही बता देना संभव है—(१) सेवक की आवश्यकताएँ बहुत कम और जीवन सादा तथा खर्च कम होना चाहिए परन्तु खर्च-वर्च में ऐसी काट-छाँट, जो कार्यशक्ति में बाधक होती हो, गलत समझना चाहिए। इसके साथ ही कार्य-शक्ति के पोषण की दृष्टि से आवश्यक या इष्ट सुख-सुविधा भी सेवक अपने आस-पास के लोगों के साथ सहभागी होकर भोगे। तभी वह उसे शोभा देगा।

(२) कुटुम्बियों याने आश्रितों का रहन-सहन भी अपने अंगीकृत काम के योग्य ही रखने का प्रयत्न और आग्रह रखना चाहिए। इसके कारण घर में सदा अप्रसन्नता, गृहक्लेश न होने पावे, इसका भी वह ध्यान रक्खे। यदि खुद उसकी सेवावृत्ति सच्ची, उत्कट, और रहन-सहन सादा हुआ व उसने त्याग के बारे में "पहिले करना पीछे कहना" का नियम रखा तो उसके आचरण का कुटुम्बियों पर भी अनुकूल प्रभाव पड़े बिना न रहेगा।

सेवक को अपने कुटुम्बियों को भी स्वावलम्बी अर्थात् उद्योगी बनाने का ध्यान रखना चाहिए। स्वावलम्बन का अर्थ एकाकीपन या दूसरों से फटककर रहना नहीं है। अपने-अपने हिस्से की जिम्मेदारी उठाने वाला परस्परावलम्बन ही सच्चा स्वावलम्बन है। स्वावलम्बी बनने के लिए परिवार के प्रत्येक घटक को स्वतंत्र काम-धन्धे और स्वतंत्र रुपये कमाने या अपना अलग-अलग जमा खर्च रखने की आवश्यकता नहीं है। किसान, बुनकर, कुम्हार इत्यादि की स्त्रियाँ, विधवा और आठ-दस वर्ष के बच्चे भी अपने-अपने तईं स्वावलम्बी—आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र ही होते हैं।

(३) सेवक को अपने कुटुम्बियों याने आश्रितों की संख्या व्यर्थ ही बढ़ाने की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। सहज-प्राप्त याने औरस सम्बन्ध से व सामाजिक प्रथा के अनुसार जितने भी आश्रित होते हों उतने ही काफी समझने चाहिएँ। मित्र, आपत्ति-ग्रस्त बनाये या माने हुए भाई-बन्धु या दत्तक पुत्र इत्यादि का बोझ नहीं बढ़ाते जाना चाहिए। क्योंकि उसे तो सारे समाज को ही अपने मित्र, भाई-बन्धु या पुत्र मानना है।

(४) जीवन बीमा द्रव्य-संग्रह और विरासत देने का एक प्रकार है। सेवक का जीवन-बीमा खुद उसे या उसकी संस्था को कराने की कोई जरूरत नहीं है। बीमे की ही तरह उसे पेंशन की भी जरूरत नहीं है। बुढ़ापे में भी सहूलियत से करने योग्य काम थोड़े नहीं होते। उनमें जो अपने अनुकूल हो वही काम सेवक करे। विशेष रूप से काम करने योग्य न रहने वाले सेवक का पोषण संस्था, आत्मीयजन या सरकार को करना चाहिए। सेवक के लिए प्रावीडेंट फण्ड की योजना निश्चित मर्यादा तक करना इष्ट है, या अनुचित नहीं है। प्रावीडेंट फण्ड विवाह या मकान बनाने-जैसे विशेष खर्च या बीमारी-जैसे अचानक आ पड़ने वाले खर्च में उपयोगी हो जाता है।

(५) सेवक को उतना ही खर्च लेना चाहिए जितनी उसे आवश्यकता हो। इससे यह नतीजा निकलता है कि उसे अपने वेतन में दूसरे कामों पर—उदाहरणार्थ चर्खा संघ के वेतन में से हरिजन सेवा पर, या इसके उलटे—खर्च करने का अव्यापारेषु व्यापार नहीं करना चाहिए। "गिव अंटु सीज़र व्हाट इज़ सीज़र्स" जिसका उसी को दे डालना ही ठीक होता है। अतः यदि कुछ संग्रह हो गया हो तो उसे अपना पोषण करनेवाली संस्था को ही वापिस लौटा देना चाहिए।

(६) सेवक को वेतन के अलावा दूसरी या नियम-बाह्य आमदनी या सुख-सुविधा की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। किसी भी निमित्त से कुछ आमदनी हो तो उसे संस्था को ही दे देना चाहिए।

"भिक्षा-बहाने छोटे-बड़े। जान लें सबको हां।"

—रामदास

(६) *अस्पर्धा*—लेकिन भिक्षा की मुख्य खूबी है अस्पर्धा। भिक्षुक किसी से भी स्पर्धा करना नहीं चाहता। वह इस तरह की कोई सामग्री—धन-सम्पत्ति जमा नहीं करता जिसे वह अपनी कह सके। दूसरे लोग, जिन्होंने अपना मानकर जो कुछ अपने कब्जे में कर रखा है उसमें से उनकी मर्जी हो तो मुट्ठी-मुट्ठी भर और कुल मिलाकर भिक्षुक के पेट भर जाने जितना दें, इतना ही वह मांगता है। वह आग्रह या जबरदस्ती नहीं करता। इस प्रकार दाता की स्वेच्छा से, अपनी खुशी से, बोझ न अनुभव करते हुए दिया हुआ भिक्षान्न कष्ट से कमाये हुए अन्न की अपेक्षा भी अधिक पवित्र है; क्योंकि कमाने का अर्थ आखिर किन्हीं अंशों में हरण करना ही है।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था में ब्राह्मण का आदर्श निःस्वार्थ समाज-सेवा था। इसलिए स्मृतिकार ने उसके निर्वाह के एक साधन के रूप में भिक्षा और उंच्छ—किसान के फसल काट ले जाने पर नीचे बिखरे हुए अन्न कण को इकट्ठा करके उनसे निर्वाह करना—ये दो प्रकार बताये थे। दोनों में ही किसी के हितों में बाधक न होना, यह लक्षण समान रूप से है।

भिक्षा में ये सारे गुण होने पर भी दूसरी ओर कितने ही दोष और कठिनाइयां भी हैं:—

(१) *विवेकशून्यता*—भिक्षादान में विवेक कठिनाई से ही मिलेगा। "दरवाजे पर आता है तो मुट्ठी पर दाने देकर चलता करो"—भिक्षा देने वाले की दृष्टि इतनी ही रहती है। इससे भिक्षा देने में आस्था नहीं रहती और एक बड़ी तादाद में दान अपात्र को भी दे दिया जाता है। भिक्षादान के लिए एक संगठन बनाकर यदि यह ठहरा लिया जाय कि गांव के प्रमुख या जानकार लोग जिनको परवाना दे दें वही भिक्षा मांगें और गांव के लोग उन्हीं को भिक्षा दें तो अपात्र

को भिक्षा-दान देने की आशंका दूर हो सकती है लेकिन तब भिक्षा में से स्वाधीनता और स्वतन्त्रता समाप्त होकर परवाना देने में पक्षपात और तिकड़म चालू हो जाने का अंदेशा पैदा हो जाता है।

(२) *सोने से गढ़ाई मँहगी*—मुट्ठी-मुट्ठी अनाज इकट्ठा करने में ही सेवक की बहुत सी शक्ति खर्च हो जाती है। और इसके अलावा भिक्षान्न को पकाने की भी मेहनत करनी पड़ती है। यदि पके पकाये अन्न की भिक्षा लेना है तो नियत समय साधना चाहिए। और फिर सेवक को खाद्य-अखाद्य-सम्बन्धी नियम पालने में कठिनाई होती है।

(३) *अपूर्णता*—भिक्षुक के लिए अपने शरीर की सारी आवश्यकताएँ भिक्षा-द्वारा पूरी कर लेना कठिन होता है। समुचित आहार के लिए आवश्यक भिन्न-भिन्न वस्तुएँ झोली में पड़ना असंभव ही है। और इसके अलावा कपड़े, लेखन—साहित्य, दियाबत्ती व आश्रयस्थान आदि की व्यवस्था भिक्षा के द्वारा कैसे होगी ?

वार बाँध कर भोजन करना—भिन्न-भिन्न लोगों के घर भोजन करने जाना भिक्षा का ही एक दूसरा प्रकार है। परन्तु उसमें भी उपर्युक्त गुण-दोष कुछ अन्तर के साथ रहते हैं। दोनों में से किसी भी प्रकार को अंगीकार करने का निश्चय करते समय इन दोषोंके प्रति जागरूक रहना चाहिए।

फुरसत का धन्धा—यह बात नहीं है कि खड़े (स्थायी) सेवक का भी सारा ही समय और सारी ही शक्ति सार्वजनिक कार्यों में खर्च होगी। अतः उसे किसी उत्पादक काम में ही अपनी फुरसत के समय का उपयोग करना उचित है। ऐसे उद्योग से जितनी कमाई होगी उतना ही समाज का भार हलका हो सकेगा। इसलिए यह उद्योग स्वाधीन तथा छोटा और कभी भी करने व समेट लेने योग्य होना चाहिए। सूत कातना, कपास पींजना, बटन बनाना, सिलाई का काम इत्यादि सेवक अपनी आवश्यकता के लिए कर सकता है। बेंत का

काम, छपाई, घड़ी सुधारना, नाड़े और कन्दील की बत्ती बुनना, धागे बटना, जाली बुनना जैसे और भी कई छोटे और उपयोगी काम सुझाये जा सकते हैं। विद्वान् सेवक प्रगतिशील साहित्य की भी रचना कर सकता है। सार्वजनिक काम को पहिला स्थान देकर बचत के समय सेवक को निर्दोष उद्योगों के द्वारा भले ही कम क्यों न हो कुछ न कुछ कमा लेना उचित है।

सेवक के लिए ऐसे एक या अनेक हुनर सीख रखना अच्छा है। मौका आ पड़ने पर उनके आधार पर उसे स्वावलम्बी बनने की भी हिम्मत होनी चाहिए। क्योंकि ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि कुछ समय के लिए समाज को उसकी ज़रा भी ज़रूरत न रहे। या यदि सेवक अठपहलू न हो तो उसका सदा के लिए न रहना भी संभव है। ऐसे समय सेवक इन उद्योग-हुनरों का आश्रय ले सकेगा तो उसकी असहाय स्थिति न हो सकेगी। या "बैठा बनिया क्या करे, इधर की टोकरी उधर धरे।" वाली कहावत के अनुसार उसे अंट-शंट फालतू काम करने का मोह नहीं होगा। इस प्रकार का आत्म-विश्वास कि मैं कभी भी स्वावलम्बी हो सकता हूँ, सेवक के लिए हमेशा लाभदायक होगा।

सेवक और कर्ज—सेवक की अपनी आर्थिक मर्यादाएँ होती हैं। इसलिए उसे कभी कर्ज करना उचित नहीं है। कर्ज के कारण मनुष्य बन्धन में बँध जाता है और उसे कर्ज उतारने के लिए सेवा-कार्य भी छोड़ देना पड़ता है। सेवक जैसे-जैसे सेवा-कार्य में संलग्न होता जाता है वैसे-वैसे उसकी व्यक्ति-गत धन्धा करके पैसा कमाने की शक्ति भी कम होती जाती है। जिससे उसके लिए सेवा कार्य छोड़कर कर्ज चुकाना कठिन हो जाता है। इसलिए सेवक को समय पर ही सचेत रहकर किसी भी कारण से कर्ज न लेने की सावधानी रखनी चाहिए। दूसरे का जामिन बनना भी मानो एक प्रकार का इकरारनामा लिख देना ही है। अपने लिए मुचलका लिख देना—खुद ही जमानत

देना—भी सेवक के लिए संभव नहीं है। दिये हुए वचन को पालने का तो वह अपने तौर पर पूरा प्रयत्न करेगा। वचन-भंग करना भी वह कभी नहीं चाहेगा। लेकिन यदि विवशता से वचनभंग हुआ तो द्रव्य-दण्ड देने की जिम्मेवारी लेने की अपेक्षा चिता में जल मरने की तैयारी करना उसे अधिक शोभा देगा। यहाँ तक हमने सेवाशील धन्धे करने वाले खड़े सेवक का विचार किया।

स्वयंसेवक—का अर्थ है प्रापंचिक या बैठे सेवक और खड़े सेवक में एक प्रकार का समझौता। तमाम समझौतों की तरह स्वयंसेवक में भी दोनों पक्षों के गुण आते हैं। उसी तरह दोनों ओर के दोष भी उत्पन्न होना संभव है।

इस पद्धति का मुख्य गुण यह है कि स्वयंसेवक अपना निजी धन्धा करके सार्वजनिक कार्य करने वाला होता है। अतः उसके निर्वाह का प्रश्न उपस्थित नहीं होता और निर्वाह के प्रश्न से पैदा होने वाली हजारों झंझटें अपने आप टल जाती हैं। स्वयंसेवक के लिए वेतन-भोगी सेवा की अपेक्षा अपनी निस्पृहता और सारासार-विवेक रखना सुलभ रहता है।

इसके विरुद्ध व्यक्तिगत धंधा और सार्वजनिक काम दोनों को सँभालना अनेक बार कठिन होता है। और एक के लिए दूसरे का बलिदान देना पड़ता है। दो मालिकों की नौकरी करने से किसी एक की उपेक्षा हो जाना संभव रहता है। किन्तु स्वयंसेवक का झुकाव जिस स्वामी से प्राप्ति होती है उसी की ओर होने की ज्यादा संभावना रहती है, जिससे सेवा कार्य की ही उपेक्षा होना अधिक संभव है। और थोड़ी-सी मेहनत या थोड़े से समय में काफी कमाकर अपनी अधिकांश शक्ति और समय सेवा कार्य में लगा सकने वाले माई के लाल तो विरले ही मिलेंगे।

एक और खतरा इस तरह का है कि इससे प्रपंच और सेवा कार्य दोनों के परस्पर-भिन्न ही नहीं बल्कि परस्पर-विरुद्ध और भिन्न-भिन्न

नीति-नियमों के द्वारा नियन्त्रित जीवन-विभाग बनना संभव है। सच पूछिए तो प्रपंच भी सेवा की ही भावना से चलाना चाहिए। यदि वह इस प्रकार चलाया जाय तो फिर खास सेवा कहकर उसे करने की जरूरत या जिम्मेदारी नहीं रहती, यह हमने पहिले ही देख लिया है। परन्तु कार्यकर्त्ता के समयपत्रक में यदि प्रपंच और सेवा-कार्य ये स्वतन्त्र विषय के रूप में दर्ज हो गये तो फिर सेवा के लिए अधिक समय मिलने के उदात्त उद्देश्य से स्वयंसेवक यह इच्छा करेगा कि प्रपंच का गड्ढा जितनी कम मेहनत से भर जाय उतना ही अच्छा। फिर इसके लिए उसे भले-बुरे मार्ग अवलम्बन करने का भी मोह होगा। वह ऐसा समझने लगेगा कि सेवा-कार्य के नीति-नियम अलग हैं और धन्धे के अलग। व्यक्तिगत जीवन के अलग हैं और सार्वजनिक जीवन के अलग। सेवाधर्म के बन्धन धन्धे पर लागू नहीं होते। इसके अलावा इस विश्वास से कि धन्धे के पाप सेवा के पुण्य से नष्ट हो जायँगे, स्वयंसेवक का अपने धन्धे या व्यक्तिगत जीवन में नीति-बन्धन के सम्बन्ध में विशेष लापरवाह हो जाना भी संभव है।

इस खतरे को बचाकर अर्थात् कमाई के धन्धे को भी निर्दोष रीति से चला कर शेष समय में जितना बने उतना थोड़ा या बहुत सेवा कार्य करने का तरीका निरापद और स्तुत्य है। सार्वजनिक सेवा-कार्यों के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले सेवकों की जरूरत है तो भी उनकी संख्या सदैव मर्यादित ही रहेगी और रहनी भी चाहिए। परन्तु अपनी-अपनी फुरसत के समय बिना वेतन सहयोग देने वाले अनेक स्वयंसेवकों का रहना संभव और इष्ट है।

१०

विविध मुद्दे

संघ-निष्ठा—अपना इष्ट कार्य पूरा करने के लिए सेवक को अनेक लोगों की सहायता और सहयोग की जरूरत रहती है। उसे अपने सहयोगी या साथी ढूँढ़ने पड़ते हैं। काम ही सेवक का प्रपंच—गृहस्थी—और सहयोगी ही उसके भाई-बन्धु हैं। संघ सेवक का आधार है। और किसी भी संगठन को मजबूत वा काम करने योग्य बनाने के लिए उसके प्रत्येक घटक सेवक में संघ-भावना, संघ-निष्ठा व संघ-शरणता होनी चाहिए।

सेवक के मन में अपने सहयोगियों के लिए आत्मीयता होनी चाहिए। उनके प्रति बड़प्पन की, अधिकार की, या अभिमान की भावना नहीं होनी चाहिए। हम बड़े आदमी और दूसरे छोटे-मातहत, हम मार्ग-दर्शक और दूसरे हमारे अनुयायी, हम उनके और उनके काम के आधार हैं, इस तरह का अहंकार सेवक में होने से काम नहीं चलेगा। कोई कितना ही समर्थ कार्यकर्ता क्यों न हो, वह संघ के आधार के अभाव में निर्बल और पंगु है। भले ही वह संघ का प्रमुख कार्यकर्ता क्यों न हो, संघ-रूपी वृक्ष का तना हो, तो भी बिना डाली-पत्ते के तने का कोई महत्व नहीं।

भले ही वह संघ का नेता, अध्यक्ष, व्यवस्थापक या अन्य कैसा ही अधिकारी क्यों न हो, अधिकार का अर्थ सत्ता या प्रभुत्व नहीं है, अधिकार का मूल अर्थ ही कर्तव्य है, यह बात उसे ध्यान में रखनी चाहिए।

नेता का अर्थ है सेवक का भी सेवक। नेता को सेवकों की शंकाएँ, गलत-फहमियाँ, कठिनाइयाँ आदि पर विश्वास और नम्रतापूर्वक विचार करना चाहिए। जिस प्रकार माँ अपने बच्चों की फिक्र रखती है उसी प्रकार बड़े सेवक को छोटे कार्यकर्ताओं की फिक्र रखनी चाहिए।

इसके विपरीत नेता तो एक मध्यवर्ती कार्यकर्ता है। उसे सब पक्षों पर ध्यान रखना पड़ता है। दूसरे नम्बर के कार्यकर्त्ता यदि अपने हिस्से के कामों को या क्षेत्रों को देख लें तो काफी है। पर नेता के लिए यह बात नहीं है। उसे सब तरफ आगे पीछे, और चारों ओर नज़र डालनी पड़ती है। अतः व्यापक दृष्टि से वह जो नीति निश्चित करेगा और उसके अनुसार अपने सहकारियों को जो आदेश देगा उसे उन्हें तत्काल पालना जरूरी है। (यदि वह आज्ञा सहयोगियों को नीति-विरुद्ध लगे तो बात दूसरी है।) जहाँ कोई मिस्त्री बहुत से खातियो को साथ लेकर कोई चीज बनाता है तब मिस्त्री के बताये माप और आकार के एक-एक अवयव प्रत्येक बढ़ई को बनाना पड़ते हैं। अमुक माप और आकार ही क्यों, दूसरा क्यों नहीं, इस पर बहस या चर्चा करने से काम नहीं चलता। सांघिक कार्य में कुछ अंशों में यही स्थिति नायक और सदस्यों के बीच रहती है। सहायकों को प्रत्येक बात तफसील से समझाते बैठना न तो तत्काल संभव होता है, न आवश्यक ही। हाँ, सुविधानुसार तो सहायकों को भी काम की संपूर्ण योजना और उसके अनुसार तफसीलवार कार्यक्रम की युक्ति-युक्तता समझनी इष्ट ही है। वैसे ही किसी भी कारण से छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं की पारस्परिक बन्धु-भावना में किसी प्रकार बाधा नहीं आनी चाहिए।

संघ के कार्यकर्ताओं में आज्ञा-पालन का गुण बहुत मूल्यवान है। आज्ञा-पालन का अर्थ है अपने अंगीकृत या सौंपे हुए काम को बिना भूल दृढ़ता और निश्चिन्तता से करने तथा उसके लिए अपने नेता को निश्चिन्त बना देने की तैयारी। यदि बड़ी और विस्तृत इमारत खड़ी

करना हो तो उसका प्रत्येक खम्बा मजबूत और अडिग होना चाहिए। प्रत्येक कार्यकर्ता मानों इस तरह का एक खम्बा ही है। यदि एक भी खम्बा हिला-डुला या ढीला हुआ तो सारी इमारत डगमगाये बिना, कार्य की प्रगति रुके बिना न रहेगी। एक बारीक-सा स्क्रू भी ढीला हुआ कि घड़ी बन्द हो जाती है। अतः भले ही हमारे हिस्से में एक छोटा-सा काम ही आता हुआ दिखाई दे लेकिन सेवक को यह पहिचान कर कि समग्र काम में हमारे छोटे से काम की बहुत आवश्यकता है, अपना काम अचूक पूरा करने का जी तोड़ प्रयत्न करना चाहिए।

सेवकों में परस्पर विश्वास, आदर और हार्दिकता होनी चाहिए। एक-दूसरे के सदुद्देश्य और लगन पर विश्वास होना चाहिए। इसलिए संघ में किसे भर्ती करना और किसे नहीं; उसी प्रकार संघ में से किसे निकालें यह भी सभी घटकों के विचार से निश्चित होना उचित है। एक-साथ काम करते हुए परस्पर अविश्वास, अप्रीति, अनादर वा स्पर्धा की भावना रखना (विदेशी) सरकार की नौकरी में एक बार भले ही शोभा दे या चल सके लेकिन सेवा कार्य करनेवाले सहकारियों में बिल्कुल नहीं खप सकता। सेवकों में परस्पर भाई-चारा और आत्मीयता रहनी चाहिए। एक-दूसरे की कठिनाई के समय में—काम के बारे में ही नहीं, बल्कि खानगी और घरेलू कठिनाइयों में भी उन्हें एक-दूसरे की तन-मन से सहायता करनी चाहिए।

संघ के आश्रय से जहाँ सेवक की कार्यशक्ति, उत्साह, आत्म-विश्वास और निश्चिन्तता या निडरता बढ़ती है, वहाँ उसके साथ ही उसकी जिम्मेदारी की भावना भी बढ़नी चाहिए। सेवक के मन में यह बात हमेशा जाग्रत रहनी चाहिए कि संघ के काम की सफलता मेरी दक्षता पर अवलम्बित है। संघ की प्रतिष्ठा भी मेरे हाथ में है; मेरे व्यवहार पर से ही लोग सारे संघ की परीक्षा करेंगे। और मेरी भूल का परिणाम सारे संघ और काम को भोगना पड़ेगा, यह बात सेवक

नेता का अर्थ है सेवक का भी सेवक। नेता को सेवकों की शंकाएँ, गलत-फहमियाँ, कठिनाइयाँ आदि पर विश्वास और नम्रतापूर्वक विचार करना चाहिए। जिस प्रकार माँ अपने बच्चों की फिक्र रखती है उसी प्रकार बड़े सेवक को छोटे कार्यकर्ताओं की फिक्र रखनी चाहिए।

इसके विपरीत नेता तो एक मध्यवर्ती कार्यकर्ता है। उसे सब पक्षों पर ध्यान रखना पड़ता है। दूसरे नम्बर के कार्यकर्त्ता यदि अपने हिस्से के कामों को या क्षेत्रों को देख लें तो काफी है। पर नेता के लिए यह बात नहीं है। उसे सब तरफ आगे पीछे, और चारों ओर नज़र डालनी पड़ती है। अतः व्यापक दृष्टि से वह जो नीति निश्चित करेगा और उसके अनुसार अपने सहकारियों को जो आदेश देगा उसे उन्हें तत्काल पालना जरूरी है। (यदि वह आज्ञा सहयोगियों को नीति-विरुद्ध लगे तो बात दूसरी है।) जहाँ कोई मिस्त्री बहुत से खातियों को साथ लेकर कोई चीज बनाता है तब मिस्त्री के बताये माप और आकार के एक-एक अवयव प्रत्येक बढ़ई को बनाना पड़ते हैं। अमुक माप और आकार ही क्यों, दूसरा क्यों नहीं, इस पर बहस या चर्चा करने से काम नहीं चलता। सांघिक कार्य में कुछ अंशों में यही स्थिति नायक और सदस्यों के बीच रहती है। सहायकों को प्रत्येक बात तफसील से समझाते बैठना न तो तत्काल संभव होता है, न आवश्यक ही। हाँ, सुविधानुसार तो सहायकों को भी काम की संपूर्ण योजना और उसके अनुसार तफसीलवार कार्यक्रम की युक्ति-युक्तता समझनी इष्ट ही है। वैसे ही किसी भी कारण से छोटे-बड़े कार्यकर्ताओं की पारस्परिक बन्धु-भावना में किसी प्रकार बाधा नहीं आनी चाहिए।

संघ के कार्यकर्ताओं में आज्ञा-पालन का गुण बहुत मूल्यवान है। आज्ञा-पालन का अर्थ है अपने अंगीकृत या सौंपे हुए काम को बिना भूल दृढ़ता और निश्चिन्तता से करने तथा उसके लिए अपने नेता को निश्चिन्त बना देने की तैयारी। यदि बड़ी और विस्तृत इमारत खड़ी

करना हो तो उसका प्रत्येक खम्भा मजबूत और अडिग होना चाहिए। प्रत्येक कार्यकर्ता मानों इस तरह का एक खम्भा ही है। यदि एक भी खम्भा हिला-डुला या ढीला हुआ तो सारी इमारत डगमगाये बिना, कार्य की प्रगति रुके बिना न रहेगी। एक बारीक-सा स्क्रू भी ढीला हुआ कि घड़ी बन्द हो जाती है। अतः भले ही हमारे हिस्से में एक छोटा-सा काम ही आता हुआ दिखाई दे लेकिन सेवक को यह पहिचान कर कि समग्र काम में हमारे छोटे से काम की बहुत आवश्यकता है, अपना काम अचूक पूरा करने का जी तोड़ प्रयत्न करना चाहिए।

सेवकों में परस्पर विश्वास, आदर और हार्दिकता होनी चाहिए। एक-दूसरे के सदुद्देश्य और लगन पर विश्वास होना चाहिए। इसलिए संघ में किसे भर्ती करना और किसे नहीं; उसी प्रकार संघ में से किसे निकालें यह भी सभी घटकों के विचार से निश्चित होना उचित है। एक-साथ काम करते हुए परस्पर अविश्वास, अप्रीति, अनादर वा स्पर्धा की भावना रखना (विदेशी) सरकार की नौकरी में एक बार भले ही शोभा दे या चल सके लेकिन सेवा कार्य करनेवाले सहकारियों में बिल्कुल नहीं खप सकता। सेवकों में परस्पर भाई-चारा और आत्मीयता रहनी चाहिए। एक-दूसरे की कठिनाई के समय में—काम के बारे में ही नहीं, बल्कि खानगी और घरेलू कठिनाइयों में भी उन्हें एक-दूसरे की तन-मन से सहायता करनी चाहिए।

संघ के आश्रय से जहाँ सेवक की कार्यशक्ति, उत्साह, आत्म-विश्वास और निश्चिन्तता या निडरता बढ़ती है, वहाँ उसके साथ ही उसकी जिम्मेदारी की भावना भी बढ़नी चाहिए। सेवक के मन में यह बात हमेशा जाग्रत रहनी चाहिए कि संघ के काम की सफलता मेरी दक्षता पर अवलम्बित है। संघ की प्रतिष्ठा भी मेरे हाथ में है; मेरे व्यवहार पर से ही लोग सारे संघ की परीक्षा करेंगे। और मेरी भूल का परिणाम सारे संघ और काम को भोगना पड़ेगा, यह बात सेवक

को सदैव अपने मन में जाग्रत रखनी चाहिए। यह भान उसे अनेक खतरों से बचायेगा और अखण्ड-रूप से उसकी प्रगति करेगा।

संस्था-निष्ठा—उपर्युक्त विवेचन में यह कल्पना की गई है कि संघ अनेक किन्तु इनेगिने या मर्यादित व्यक्तियों का एक समूह है। जहाँ संघ की घटना व नियम तैयार हुए और उसमें सम्मिलित हो सकने वाले व्यक्तियों की संख्या अमर्यादित या अनिश्चित हुई तो फिर वह संस्था हो गई। जब सेवक संस्था की ओर से काम करेगा तो उसे संस्था के उद्देश्य और कार्य-पद्धति स्वीकार होनी चाहिए। एक पेटार्थी नौकर संस्था से उद्देश्य व नीति की छानबीन करके भी 'जी-हजूर' बन कर भले ही काम कर सके लेकिन सेवक को तो चाहिए कि वह पहिले से ही संस्था की परीक्षा व पसन्दगी कर ले और फिर उसके बाद उसे संस्था को धोखा नहीं देना चाहिए। संस्था के नियम व आदर्शों का अक्षरशः ही नहीं, बल्कि उसके उद्देश्य का भी पालन करना चाहिए। अनेक कार्यकर्त्ताओं में यह बात होती है कि वे अपने ही नहीं दूसरों के भी निजी सामान व माल-असबाब की हृदय से चिन्ता रखते हैं। इससे संस्था या सार्वजनिक संपत्ति के हानि-लाभ, हित-अहित इत्यादि के सम्बन्ध में उनकी आँख-मिचाई, लापरवाही या गैर-जिम्मेदारी दिखाई देती है। यह अनुचित और रोकने योग्य है। निजी सम्पत्ति—व्यक्तिगत चीजों—की अपेक्षा भी सेवक को सार्वजनिक सम्पत्ति की ज्यादा चिन्ता रखनी चाहिए।

सेवकों को चिन्ता रखनी चाहिए—इसका यही अर्थ है कि सबको ही चिन्ता रखनी चाहिए। क्योंकि सेवा वृत्ति तो सबको ही अपनानी चाहिए। हमारे इन तमाम विवेचनों में सेवक को सम्बोधित करके बहुत से विधि-निषेध बताये गये हैं; परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि जो अपने को समाज-सेवक मानते हैं उन्हीं के लिए वे बन्धनकारक हैं, और जो अपने को सेवक नहीं मानते उन्हें मनमानी करने की इजाज़त है। सेवक का काम किसी लुहार, बढ़ई-जैसा वैकल्पिक धन्धा

नहीं है। सेवा तो एक वृत्ति है और वह सभी के लिए है। मनुष्य-मात्र सेवक है। और सेवक के कर्तव्य भी मनुष्य-मात्र के लिए ही हैं; जिस प्रकार 'भक्त को किसी की ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए'—इसका अर्थ यही है कि सभी को ईर्ष्या-मत्सर छोड़ना चाहिए और भक्ति-भाव धारण करना चाहिए।

मतभेद—संस्था के अन्दर कार्यकर्त्ताओं में स्वभाव-भेद, दृष्टि-भेद और मत-भेद किन्हीं अंशों में अपरिहार्य हैं। जहाँ तत्वों के सम्बन्ध में एक मत होता है वहाँ तफसील के बारे में भी सहयोगियों में एकमत हुए बिना कोई संस्था और कोई काम टिकाऊ नहीं हो सकता। दूसरे की विचार-धारा को आस्था-पूर्वक समझ लेने के लिए निरभिमानता, निराग्रहता और बुद्धि की मुक्तता की जरूरत होती है। उसी प्रकार अपने विचार दूसरों के दिल में जमा देने के लिए भी योजना-शक्ति और सहनशीलता की आवश्यकता होती है। इसके अलावा भी जो मतभेद रह जाते हैं उनको निभा लेने के लिए सेवक में सहिष्णुता, उदारता तथा बहुमत का आदर करने की खिलाड़ी-वृत्ति भी अवश्य होनी चाहिए।

नेता पर विश्वास—जिस प्रकार राजा पर निष्ठा रखना राष्ट्र-निष्ठा का ही एक अंग है; उसी प्रकार नेता पर विश्वास रखना संघ या संस्था-निष्ठा का एक अंग है। बड़े-बड़े साम्राज्य की सरकारें भी व्यक्ति-प्रधान होती हैं। फिर यदि संघ या संस्था किन्हीं अंशों में व्यक्ति-प्रधान हों तो उसमें कोई आश्चर्य या खेदजनक बात नहीं है। किसी भी संस्था की सफलता अधिकांश में नेता की बुद्धिमानी, लगन, पुरुषार्थ और अनुयायियों की उसकी हिदायतों और इशारों पर काम करने की तत्परता पर निर्भर है। अनुयायियों को अपने नेता का चुनाव सोच-समझकर करना चाहिए। जहाँ तक हो संस्था का कार्य-क्रम और कार्य-प्रवृत्ति सभी सदस्यों की सम्मति और स्वीकृति से ही होना चाहिए। परन्तु इतना सब होने पर भी नेता के पास 'शेषाधिकार' रहेंगे ही और

रहना भी चाहिए। तफसील के सम्बन्ध में तथा अनपेक्षित और जरूरी मौकों पर अपने नेता का निर्णय अनुयायियों को निःशंक होकर स्वीकार करना चाहिए।

संघ के काम की सफलता अधिकांश में नेता के आत्म-विश्वास या प्रभाव पर ही निर्भर रहती है। और नेता का प्रभाव उसके सहयोगियों की निष्ठा और दृढ़ता के ऊपर अवलम्बित रहता है। किसी एक भी सेवक का चोरपन, आज्ञाभंग, या उद्दण्डता नेता के अवसान-घात या सारे कार्य को धक्का पहुँचाने के लिए काफी हो सकती है।

तत्वनिष्ठा—अलबत्ते संघ, संस्था या नेता के प्रति हमारी निष्ठा भी, तत्व-निष्ठा की विरोधी न होनी चाहिए। तत्व, सिद्धान्त या ध्येय का दर्जा ऊँचा होने से संघ, संस्था, नेता सभी उसकी आज्ञा पालन करने के साधन हैं। अतः यदि नेता का आदेश या संस्था का अनुशासन मूल ध्येय या नीति-नियम के विरुद्ध हो तो उसका त्याग करना सेवक का कर्तव्य है। इस प्रकार का त्याग न करके ऊपर-ऊपर से निष्ठा दिखाने और भीतर-भीतर द्रोह करने की जो रूढ़ि पड़ गई है वह निन्दा के योग्य है।

बौद्ध धर्म का एक सिद्धान्त-वाक्य प्रसिद्ध है—"धर्मं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।" मैं धर्म (सिद्धान्त) की शरण जाता हूँ। बुद्ध (नेता) की शरण में जाता हूँ। संघ की शरण में जाता हूँ। यह नियम सेवक पर भी लागू होता है।

चुनाव और पदाधिकार—सेवक अधिकार या महत्व के पद स्वीकार करे या नहीं? या प्राप्त करने का प्रयत्न करे या नहीं?

यह प्रकट है कि अधिकार के स्थानों से लोक-सेवा करने का विशेष मौका मिलता है। उदाहरणार्थ—राजा के हाथ में लोगों का भला-बुरा करने की कितनी अधिक सत्ता रहती है। यदि सेवक को भी राज-पद मिल जाय तो वह भी लोगों की कितनी ज्यादा सेवा कर

सकता है। इसलिए क्या सेवक को राजगद्दी स्वीकार कर लेनी चाहिए? गद्दी प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए? इसी दृष्टि से क्या उसे प्रधान, वाइसराय, गवर्नर, कलक्टर बनने की स्वीकृति देनी चाहिए? बनने का प्रयत्न करना चाहिए?

धारा सभा का मेम्बर, म्युनिसिपलटी का मेम्बर या अध्यक्ष, लोकल बोर्ड का मेम्बर या अध्यक्ष, ग्राम-पंचायत का सभासद या सरपंच इत्यादि चुनावों के पदों की उम्मेदवारी करनी चाहिए या नहीं?

क्या उसे सरकारी बैंक, कांग्रेस कमेटी, हिन्दू सभा, मुस्लिम लीग, चर्खा संघ जैसी गैर-सरकारी संस्थाओं का चुनाव लड़ना चाहिए?

क्या उसे सरकार-द्वारा नियुक्त पद स्वीकार कर लेना चाहिए? लोकल बोर्ड, म्युनिसिपलटी अथवा भिन्न-भिन्न सरकारी कमेटियों की नामज़द जगहें स्वीकार करनी चाहिएँ?

यहाँ हमारा मतलब चुनाव व नामजदगी की पूरी सूची देना नहीं है। इतनी विस्तृत सूची देने का यही उद्देश्य है कि चुनाव व नामजदगी में तत्वतः अन्तर नहीं है; उसी प्रकार सरकारी, अर्ध-सरकारी, गैर-सरकारी और सरकार-विरोधी जगहों का भेद भी प्रकार-भेद ही है, तात्विक भेद नहीं है, यह जरूर ध्यान में रखना है। जिस प्रकार चर्खा-संघ सेवा-संस्था है उसी प्रकार सरकार भी प्रजा की सेवा के लिए ही है। यदि सेवा-संस्था चलाना आवश्यक है तो कोई न कोई उसका अधिकारी होना ही चाहिए। और यही खास तौर पर इष्ट है कि वे सेवा-वृत्ति के ही लोग हों। यदि चर्खासंघ के चुनाव में आ जाना दोष नहीं है तो सरकारी जगहों के चुनाव में आ जाना भी दोष नहीं है। इसी प्रकार नियुक्ति और चुनाव में भी तत्वतः अन्तर नहीं है। फर्क इतना ही है कि नियुक्ति करने वाले थोड़े आदमी होते हैं और चुनाव करने वाले अधिक। नियुक्ति या चुनाव के द्वारा पद स्वीकार करने और उस जगह के लिए उम्मीदवार होने में सम्मति पहिले देने या पीछे देने से अधिक अन्तर रहना आवश्यक नहीं है। चुनाव के लिए

खड़े रहने का मतलब है कि मतदाता बहुमत से जो आज्ञा दें उसे पालन करने के लिए हम तैयार हैं, इस प्रकार का आश्वासन पहिले ही दे देना। इसका यह अर्थ हुआ कि सेवक के लिए नियुक्ति स्वीकार करने या चुनाव में खड़े रहने में तत्वतः आपत्ति नहीं है। विचार करने की बात इतनी ही है कि जिस संस्था में जगह लेनी है उसकी नीति और कार्य-पद्धति शुद्ध है या नहीं।

एक दूसरी कठिनाई भी विचार करने योग्य है। वह यह कि क्या सरकारी या अर्ध-सरकारी संस्था का काम-काज कायदे से अर्थात् अनिवार्यता से, बल से या हिंसा की सहायता से चलता है? क्या सेवक को ऐसे लाजिमी कामों में शामिल होना चाहिए? इसी तरह चुनाव में अक्सर स्पर्धा होती ही है; क्या सेवक को किसी स्पर्धा में पड़ना चाहिए?

हमने पहले एक बार देख लिया है कि आदर्श राज-संस्था में सरकारी नौकरी की तरह लोकसेवा का दूसरा राजमार्ग ही नहीं है। परन्तु इस सशर्त कथन की शर्त अर्थात् आदर्श स्थिति कभी मिलेगी ही नहीं। प्रत्येक राज-शासन में जुल्म, अन्याय, अनिवार्यता, हिंसा, संगठित गुंडाशाही कम-ज्यादा मात्रा में रहेंगी ही। परन्तु इतनी बात के लिए उसका समूल बहिष्कार करने का निश्चय करने से काम नहीं चलेगा। मनुष्य सामाजिक प्राणी और राजनीति सामाजिक जीवन का प्रमुख अंग होने के कारण किसी के लिए भी राजनीति से पूरी तरह संन्यास लेना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार राज-संस्था से त्याग पत्र देने की किसी को भी छुट्टी नहीं है उसी तरह सरकार से भी पूरी तरह असहयोग करना सम्भव नहीं है। विदेशी राज्य भी प्रजा के सहयोग के बिना और खुशी या नाखुशी की सम्मति के बिना नहीं चल सकता और स्वराज्य में भी एकतन्त्री राज या मनमानी अव्यवस्था बिल्कुल नहीं होगी, सो बात भी नहीं है। उसी तरह प्रजातन्त्रीय शासन में भी राज-दण्ड का प्रयोग कम-ज्यादा मात्रा में करना पड़ता है। शासन में होने

वाली हिंसा प्रजा के मन में व परस्पर व्यवहार में पाई जाने वाली हिंसा का ही प्रतिबिम्ब है। जब तक आपस में खून खराबी करने वाले लोग हैं तब तक उन लोगों के लिए सरकारी पिनल कोड (दण्डशास्त्र) अपेक्षाकृत उग्र या कठोर होना अपरिहार्य ही नहीं इष्ट भी है। सरकार लोकमत के आगे बहुत दूर तक दौड़ कर नहीं जा सकती।

तथापि सेवक को सरकार सरकार में तारतम्य-पूर्वक विवेक या भेद करके उसके अनुसार अपनी नीति निश्चित करनी चाहिए। विदेशी अथवा एकतन्त्री सरकार प्रजातन्त्र की अपेक्षा अधिक जालिम होती है उसी प्रकार स्वराज-शासन में भी कुछ दूसरे विभाग अन्य विभागों से अधिक हिंसामय होते हैं। पुलिस और मजिस्ट्रेट के विभागों का आधार दण्ड होता है तो शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विभाग अपेक्षाकृत अहिंसक होते हैं। कुछ विभाग सत्ता-प्रधान तो कुछ सेवा-प्रधान होते हैं। अतः यदि शासन-पद्धति विशेष अत्याचार-पूर्ण हुई तो सेवक उससे दूर, फासले पर रहेगा और उस सरकार की नौकरी स्वीकार न करके दूर रह कर बहुत हुआ तो सरकारी सेवा-प्रधान कामों में सलाह-मशविरा देने का काम करेगा। प्रजातन्त्री सरकार में भी सेना, पुलिस, न्याय आदि विभागों में नौकरी करने की अपेक्षा वह सेवा-प्रधान विभागों में नौकरी करना अधिक पसन्द करेगा। परन्तु यदि शासन-पद्धति मौजूदा अवस्था में उत्तरोत्तर अच्छी होती जा रही हो तो उसमें उसे जो अच्छे लगें वे अधिकार ऊँचे हों या नीचे ले लेने में संकोच नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो अधिकार या सत्ता दूसरों के द्वारा चलाई हुई हम मंजूर कर लेते हैं, इतना ही नहीं बल्कि हम यह चाहते हैं कि दूसरे उन्हें चलाते रहें, तो उसी सत्ता को खुद हमारे द्वारा चलाने में हमारी अयोग्यता की बात बाधक होती हो तो बात दूसरी, परन्तु उस अधिकार को दोषमय बताकर उससे बचना हमें शोभा नहीं देता।

आगे का प्रश्न यह है कि क्या सेवक को चुनाव की स्पर्धा में पड़ना चाहिए? शासन में तो जुल्म और हिंसा एक अंश तक अनिवार्य हैं;

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि चुनाव में भी स्पर्धा आनी ही चाहिए। प्रचलित चुनावों में कम-ज्यादा मात्रा में स्पर्धा, घृणा, झगड़ा वाममार्ग इत्यादि पाये जाते हैं, तो भी जिसे केवल सेवा के ही उद्देश्य से चुनाव में खड़ा होना हो, वह इन सारी अनिष्ट बातों को अवश्य बचा सकता है। वकालत का धन्धा सत्य को सामने रखकर करना सम्भव नहीं है या व्यापार में झूठ बोलना ही पड़ता है, जिस प्रकार यह भ्रम है उसी प्रकार यह भी भ्रम है कि तत्व-निष्ठा से या विनय-पूर्वक चुनाव नहीं लड़ा जा सकता। चुनाव के लिए खड़े होने का मतलब इतना ही है कि यदि मत-दाता हमें चुनना चाहें तो हम काम करने के लिए तैयार हैं। इसमें सेवा-भाव से भिन्न और कुछ नहीं है, बल्कि लोग जो-जो काम बतावें उन्हें यथा शक्ति करने की सेवक की तैयारी होनी चाहिए।

परन्तु सेवार्थी उम्मीदवार चुनाव लड़ने के लिए तैयार न होगा। अतः वह चुनाव जीतने के लिए, भीड़-भाव, तिकड़म, रिश्वत, जाति-निष्ठा, आत्म-प्रशंसा, परनिंदा आदि हीन साधनों से काम न लेगा।

आज कल बहुत से चुनाव-नियमों में उम्मीदवार को कुछ रकम डिपाजिट करवानी पड़ती है। जिन्हें बहुत कम मत मिलते हैं उनकी रकम जब्त हो जाती है। इसी तरह चुनाव के लिए कुछ दूसरे खर्चे करने की भी इजाजत उम्मीदवार को रहती है। इसका अर्थ यह है कि जनता की सेवा करने के लिए जनता की ओर से वेतन मिलना तो दूर उलटे सेवक ही गांठ से खर्च करे। जो ऐसा खर्च नहीं उठा सकता वह सेवा करने के योग्य नहीं; निर्धन को सेवा करने का अधिकार नहीं है। कांग्रेस-जैसी सेवा-शील संस्था में भी ऊंची-ऊंची समितियों के चुनाव में आने वाले सभासदों को अधिकाधिक चन्दा देना पड़ता है।

यह सेवक से दण्ड वसूल करने का या सेवा पर कर लगाने जैसा अर्थात् बिलकुल उलटा दिखाई देता है। फिर भी इसके समर्थन की कल्पना कर सकते हैं। एक तो यह कि चुनाव के काम को सुचारु रूप से चलाने की दृष्टि से वह आवश्यक है; दूसरे यह कि यदि सेवक अपरिग्रही और निर्धन हो तो यह खर्च उम्मेदवार के समर्थकों को करना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि वास्तविक चुनाव के पहले खानगी तौर पर यह तय हो जाना चाहिए कि उम्मीदवार कौन हो? इस पूर्व-चुनाव में जो चुना जाय उसे ही वास्तविक चुनाव के लिए उम्मीदवार बनना चाहिए और पूर्व चुनाव में उसे चुनने वालों को ही उसके लिए खर्च करना चाहिए।

अस्तु; इस प्रकार चुनाव में खड़े होना सेवा वृत्ति से असंगत नहीं है, उल्टे यह निश्चित हुआ कि वह कर्त्तव्य भी है। तथापि इस प्रश्न का दूसरा पहलू भी है। सेवक की भावना की दृष्टि से यहाँ तक विचार हुआ। परन्तु सेवक जिस समाज की सेवा करना चाहता है उसकी मनःस्थिति पर भी विचार करना पड़ता है। यद्यपि उम्मीदवार होने में सेवक का इरादा किसी से स्पर्धा करने का नहीं होता तथापि यह सम्भव है कि दूसरे उम्मीदवार उसके प्रति स्पर्धा की भावना रक्खें। जिस प्रकार सेवक को स्पर्धा का 'कर्त्ता' नहीं होना चाहिए उसी प्रकार स्पर्धा का 'कर्म' याने पात्र होना भी अनेक बार इष्ट नहीं होता है, भले ही उसका प्रतिस्पर्धी दुर्जन हो, सेवा के उद्देश्य से नहीं किन्तु बड़प्पन के लिए अधिकार-लालसा से अथवा उससे भी हीन या स्वार्थपूर्ण दाँव मन में रखकर चुनाव में खड़ा हुआ हो तो भी सेवक को उसकी ईर्ष्या की फिक्र नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसे अधिकारों से दूर रखने के लिए भी उसे चुनाव में खड़ा होना चाहिए। परन्तु हमेशा ही वस्तु-स्थिति इतनी सुविधाजनक और स्पष्ट नहीं होती है। प्रतिस्पर्धी न तो केवल दुर्जन ही होता है न सेवा-वृत्ति का पुतला ही होता है। "सेवा भी हो और कीर्ति भी मिले" इस प्रकार की मिश्रित भावना उसके

मन में रह सकती है। यह भी सम्भव है कि उसे काम करने का मौका मिलने से उसकी स्वाभाविक बढ़ती या प्रगति होकर उसकी कार्य-निष्ठा बढ़ जाय और महत्वाकांक्षा पीछे रह जाय। ऐसे उम्मीदवार को अनुत्साहित या नाउम्मीद करने में सेवक का लाभ नहीं है। सेवक प्रयत्न तो जितने भी मिल सकें एक-एक नये आदमी इकट्ठा करने का करता है। फिर चुनाव में खड़े रह कर काम करने की उत्सुकता दिखाने वाले सहयोगी को लौटा देना उसे किस तरह शोभा देगा? इसके विपरीत कच्चे सहयोगी को अधिकार की जगह पर बैठाने से तो उसका सहयोग और पक्का हो जाता है—यह तो उसके ऊपर काम की जिम्मेदारी डालने के बराबर ही होता है। इस दृष्टि से तो सेवक को अधिकार या चुनाव की जगह पर अपने को न बिठाकर दूसरे को तजवीज करना ही उचित ठहरता है।

इसके अतिरिक्त चुनाव या नियुक्ति में स्पर्धा पर नियंत्रण रखने तथा स्पर्धामूलक ज्यादतियों का न्याय करने के लिए कुछ ऐसे आदमियों की जरूरत होती है जो पूर्णतः स्पर्धा से मुक्त हों। उदाहरणार्थ—यह निश्चित करने के लिए कि कौंसिल के चुनाव में कौन खड़ा हो ऐसे ही व्यक्तियों का पार्लियामेण्टरी बोर्ड बनाया जाना चाहिए जिन्हें स्वयं उम्मीदवार होने की इच्छा न हो। कांग्रेस-कमेटियों के चुनाव में पैदा होने वाले झगड़ों का फैसला करने के लिए ऐसे ही आदमियों का न्याय-मण्डल बनाया जाता है जो कांग्रेस के किसी भी चुनाव में खड़े नहीं होते। ऐसी स्थिति में कांग्रेस का अधिकारी बनने की अपेक्षा कांग्रेस-चुनाव का न्यायाधीश बनना भी कांग्रेस की सेवा ही है। यह बात नहीं है कि म्युनिसपैलिटी के कांट्रैक्ट या नौकरी भी सेवा-भाव से नहीं कर सकते; परन्तु इसमें स्वार्थ होना सम्भव है। इसलिए म्युनिसपैलिटी के सदस्यों को स्वतः ठेके नहीं लेना चाहिए। उसी तरह अपने ही नहीं अपने निकट के

आत्मीय लोगों को भी उसमें नौकरी नहीं देनी चाहिए, इस प्रकार की पाबन्दी लगानी पड़ती है।

अतः सेवक चुनाव के लिए खड़ा हो या नहीं, इस सम्बन्ध में साधारण नियम बनाना असंभव है। सेवक को सारी परिस्थितियाँ, स्पर्धा का अस्तित्व और तीव्रता, संभाव्य उम्मीदवार की वृत्ति और योग्यता आदि बातें ध्यान में रखकर उन प्रसंगों पर निर्णय करना चाहिए।

क्षत्रिय और ब्राह्मण—प्रजातन्त्री राष्ट्रों में बहुमत वाला दल शासन-भार सँभालता है। इसलिए प्रत्येक राजनैतिक दल राष्ट्र के अधिक से अधिक लोकमत को अपनी ओर खींच लेने का प्रयत्न करता रहता है। एक चुनाव समाप्त होते ही दूसरे चुनाव की तैयारी शुरू होने लगती है। तमाम हलचलें, समारंभ, अभिनन्दन, निषेध, शिकायतें करना, अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाना, विशेष वर्ग के प्रति सहानुभूति, साहित्य, समाचार-पत्र, नाटक, सिनेमा, रेडियो इन सबका उपयोग मत प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता है। यद्यपि यह स्पष्ट रूप से कनवेसिंग नहीं है तो भी ये भिन्न-भिन्न पक्ष एक दूसरे के दुर्गुण या छिद्र अचूक पहिचान लेते हैं। इतना ही नहीं बल्कि जहाँ कनवेसिंग का उद्देश्य नहीं होता वहाँ भी उसका आरोप किया जाता है, जिससे सारा ही सार्वजनिक जीवन शंकास्पद और स्पर्धाकुल हो जाता है। राजनीति में स्पर्धा का संसर्ग काम के लिए बाधक होता है और उससे अ-राजनैतिक व सर्व-सम्मत सेवा कार्य में भिन्न-भिन्न पक्षों में हार्दिक सहयोग असंभव होता है। सारे नागरिक किसी न किसी पक्ष के प्रभाव में रहते हैं और समझ से या बेसमझी से, इच्छा से या अनिच्छा से उस दल के सैनिक बन जाते हैं। ऐसे मौकों पर यह उचित है कि कुछ सेवक इस पक्षा-पक्षी से सर्वथा अलिप्त रहें। खास कर उन लोगों को, जिन्हें कोई अ-राजनैतिक सेवा-कार्य करना है, किसी भी राजनैतिक दल के सदस्य नहीं होना अच्छा है। राजनैतिक दल के समर्थकों को

यदि क्षत्रिय मान लें तो यह कह सकते हैं कि राजनैतिक सत्ता से निःस्पृह रहने वाले ब्राह्मणों की भी समाज को आवश्यकता है।

सेवक और विद्यार्जन—सेवा कार्य करते हुए अनेक बार सेवक को अधिक विद्याध्ययन की आवश्यकता अनुभव होती है। काम करते-करते उसकी जिज्ञासा या बौद्धिक भूख बढ़ती है। उसे अधिक अनुभव, ज्ञान, सुधार, निरीक्षण, प्रवास, अध्ययन (अर्थात् दूसरों के विचार और अनुभव मालूम कर लेने) की जरूरत महसूस होती है। सेवक को नवीन कला, नवीन विषय सीखकर और हरफन मौला बनकर अपनी कार्य-क्षमता बढ़ाने तथा अधिक व्यापक करने की इच्छा रहती है।

इस प्रकार की इच्छा सेवक की प्रगतिशीलता का लक्षण होने के कारण स्वागत-योग्य है। और उसका पूरा होना इष्ट है। इसीलिए सेवा-कार्य करने वाली संस्थाएँ अपने कार्यकर्त्ता को आवश्यक शिक्षा देकर अधिकाधिक कार्यक्षम बनाने की व्यवस्था करती हैं। स्वभावतः ही इस प्रकार की शिक्षा संस्था की शक्ति और सुविधा के अनुसार अर्थात् इसी तरह करनी चाहिए कि जिससे संस्था के चालू काम में बाधा न हो, उसके लिए यदि सेवक को पहिले कुछ समय तक सेवा-कार्य छोड़ना पड़े तो संस्था उसका खर्च उठा सकती है।

जहाँ सेवक को आश्रय देने वाली संस्था न हो वहाँ सेवक की शिक्षा की व्यवस्था समाज को—भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर ईश्वर जिन्हें प्रेरणा दें उन कार्य-प्रेमी मित्रों को—करनी चाहिए। संस्था या समाज जो व्यवस्था कर दे उसी में सेवक को सन्तोष मानना चाहिए।

परन्तु यहाँ भी वस्तुस्थिति इतनी स्वच्छ नहीं रहती। यह बात नहीं कि केवल कार्य-चिंतन से ही विद्यार्जन की इच्छा उत्पन्न होती है। विद्या जिस प्रकार ज्ञान और कार्य-क्षमता बढ़ाने का साधन है उसी प्रकार सेवक की प्रतिष्ठा और दर्जा बढ़ाने का भी साधन है और उसके लिए भी अधिक शिक्षा की आवश्यकता अनुभव होती है। इसके लिए

कोई किसी कालेज में जाता है तो कोई विलायत जाकर वहाँ से कोई डिग्री ले आता है।

"लोगों पर हमारी छाप जैसी पड़नी चाहिए वैसी नहीं पड़ती है; लोग हमारी सही कीमत नहीं आँकते; स्वार्थ-त्याग, विद्वत्ता आदि गुणों से मिलने वाली कीर्ति के अभाव में हमारा तेज नहीं पड़ता; हमारे ही सहयोगियों में जो अधिक शिक्षित हैं उन्हें लोग ज्यादा आदर करते हैं और वे कामों को ज्यादा सफल बना सकते हैं" इत्यादि भावों व विचारों से सेवक विद्यार्जन के लिए उत्सुक होता है।

यह बात नहीं कि सेवा-कार्य के लिए केवल लगन और तन तोड़-कर काम करने की ही आवश्यकता रहती है। बल्कि सेवा-कार्य में भी नेता बनने के लिए बुद्धिमत्ता, बहुश्रुतता, लेखन, वक्तृता, बड़े लोगों से परिचय धन की अनुकूलता, इत्यादि बातों की जरूरत रहती है। साधारणतः लोग यह समझते हैं कि सैनिक की अपेक्षा सेनापति और सेवक की अपेक्षा नेता अधिक सेवा करता है। अतः उच्चपद से हमारे द्वारा अधिक सेवा हो, इसी उद्देश्य से सेवक शिक्षा की ओर आकर्षित होता है। ऊँची शिक्षा, समाज की ऊँची श्रेणी के लोगों से परिचय प्राप्त करने का भी साधन बन सकती है।

नेतृत्व के लिए विद्वत्ता और वसीला तो चाहिए ही। लेकिन इससे भी अधिक शील और निष्ठा की आवश्यकता रहती है। इसके अलावा सभी के लिए नेता बनना सम्भव नहीं है। एक नेता हुआ तो हजारों को अनुयायी रहना चाहिए। चित्रगुप्त की बही में सेवा-कार्य की लम्बाई-चौड़ाई का महत्व नहीं है। बल्कि सेवा का सिक्का असली है या बनावटी, इसकी पूछ होती है; अतः अनायास ही जो कार्य-भाग अपने हिस्से आ जाय उसी में सेवक को सन्तोष मानना चाहिए और उसी को उत्तमता से करना चाहिए। भलीभाँति गृह-व्यवस्था चलाने वाली किसी महान् कार्यकर्त्ता की पत्नी या नौकरानी जो उसे सार्वजनिक कामों में ध्यान देने का अवसर देती है वह भी उसकी देश-सेवा ही है।

अथवा कितने ही युवक सेवा-कार्य से घबराकर उसे छोड़ने का बहाना ढूँढ़ने के लिए शिक्षा-प्राप्ति की ओर जाते हैं। प्रारम्भ में तो यह विचार अस्पष्ट रहता है कि शिक्षा प्राप्त करके और अधिक योग्य बनकर फिर वापिस सेवा-कार्य में आ जायँगे परन्तु आगे चलकर वे अशिक्षित ही साबित होते हैं। शिक्षित लोगों का तर्कशास्त्र उन्हें कहता है कि—"त्याग का ही अर्थ सेवा नहीं है। गरीबों के द्वारा ही सेवा होती है और अच्छी स्थिति में रहना समाज का द्रोह है, सो बात नहीं है" इत्यादि।

यह तो पहले सेवा-कार्य में रहकर फिर शिक्षा की ओर प्रवृत्त होने वाले सेवकों की बात हुई। पढ़ने वाले विद्यार्थी की इच्छा पढ़ने के बाद यदि सेवामय जीवन बनाने की है तो उसे कहाँ तक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए? इसका उत्तर इस बात पर अवलम्बित रहेगा कि आगे कौन सा काम करने का इरादा है और उस काम के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने की शक्ति या साधन की अनुकूलता कहाँ तक है। साधारणतः यह ठीक है कि सेवक को—विशेषतः स्वतन्त्र रूप से काम करने वाले को—अपने विषय का सम्पूर्ण ज्ञान, स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति, लेखन और भाषण याने अपने विचार प्रकट की शक्ति और जमा-खर्च का ज्ञान आदि कार्य के स्वरूप के अनुसार कम-ज्यादा मात्रा में आवश्यक है। विद्यार्जन करने के सम्बन्ध में एक सूचना जरूरी है कि सेवा-कार्य करने वाले को कर्ज लेकर नहीं पढ़ना चाहिए। कर्ज से सेवक बन्धन में पड़ जाता है और सेवा-कार्य से दूर होने लगता है या कर्ज अदा करना ही उसके लिए असम्भव हो जाता है।

आध्यात्मिक व्याकुलता—जिस प्रकार सेवक के मन को बौद्धिक शिक्षा की उत्सुकता होती है उसी प्रकार मननशील सेवक के लिए सेवा कार्य करते-करते आध्यात्मिक व्याकुलता अनुभव करने लगना, और उसके लिए आध्यात्मिक पठन, चिन्तन, सत्संग या एकान्त इत्यादि साधने के लिए सेवा-कार्य से छुट्टी लेने की, और मौका पड़ने पर कर्म-

मार्ग को सदा के लिए नमस्कार कर लेने की इच्छा होना भी सम्भव है।

अथवा अपने किसी दोष को अनुभव करके उसे यह भी प्रतीत होना सम्भव है कि मैं सेवा-कार्य के योग्य नहीं। दोष दो प्रकार के हो सकते हैं; मानसिक और शारीरिक अथवा दुर्विचार या दुराचार। क्रोध, अहंकार, मत्सर व काम-वासना इत्यादि दुर्विचार प्रयत्नशील सेवक के मन पर भी बीच-बीच में आक्रमण कर सकते हैं। लेकिन इतने से सेवक की अयोग्यता सिद्ध नहीं होती। दुर्विचार दुराचार का बीज है और इसमें कोई शक नहीं कि वह सेवा-कार्य में बाधक होता है। परन्तु उससे लड़ने के लिए सेवा-कार्य छोड़ने की आवश्यकता नहीं। बल्कि एकाग्र सेवा-कार्य इससे झगड़ने का अच्छा उपाय है। अतः सेवक को सेवा-कार्य न छोड़ते हुए प्रयत्नशील रहकर दुर्विचारों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। सेवा-मार्ग सिद्धों के लिए—पूर्णत्व प्राप्त करने वालों के लिए—नहीं बल्कि साधकों के लिए—अपूर्ण और दोषमय व्यक्तियों के लिए—ही है। अर्थात् मनन, चिन्तन की दृष्टि से भी कार्य-संन्यास अनावश्यक ही है। सेवक के लिए नियमित रूप से आत्म-चिन्तन में कुछ समय व्यतीत करना अवश्य इष्ट है। विशेष उत्कंठा अनुभव होने पर कुछ समय तक एकान्त-सेवन करना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। लेकिन स्थायी रूप से कार्य-संन्यास लेना ठीक नहीं है। और यह हमने पहले ही प्रकरण में देख लिया है कि सत्कर्म के बिना ज्ञान-भक्ति व्यर्थ है।

दुराचरण की बात अलग है; रुपये-पैसे की गड़बड़, व्यभिचार जैसे दोष हो जाने पर, उसे छिपाकर सेवा-कार्य चलाते रहना मिथ्याचार है। इससे हमारी सेवा को बट्टा लगेगा। फिर भी एक बार ऐसा दोष हो जाने से सेवक को निराश होने का कोई कारण नहीं है। कितनी ही बार तो एक बार की गलती मनुष्य को सावधान करके मोह के विरुद्ध

विशेष रूप से मजबूत बना देती है। 'जो एक ठोकर खावे सो बावन वीर कहावे' और जो 'बावन ठोकर खावे सो पूरा खर कहलावे।'

अपने से कोई दोष हो जाने पर सेवक को चाहिए कि उसे अपने नेता के सामने खुले दिल से कह दें। और उसके विचार से ऐसे कार्यों को सँभाले जिनमें कम से कम जिम्मेवारी और खतरा हो या सार्वजनिक कामों से अलग होकर कोई निजी उद्योग सेवा-भाव से करना चाहिए। यह बात बिल्कुल नहीं है कि जिसके हाथ से एक बार या अनेक बार भी भूल हो गई है वह सेवा-कार्य के लिए स्थायी रूप से अयोग्य सिद्ध हो गया है। जनता भी ऐसा नहीं समझती है। वह अपने सेवक के प्रमाद—भूलों—को अपने पेट में रख लेने के लिए हमेशा तैयार रहती है। आवश्यकता केवल सच्चाई की है; गलती करने की अपेक्षा गलती छिपाना अधिक घातक है। जो अपने दोष उघाड़ता है लोग उसके दोष ढाँकते हैं; जो अपने दोष ढाँकता है लोग उसके दोष उघाड़ते हैं।

गहरा या विस्तृत—मर्यादित क्षेत्र में गहरा या तीव्र काम करें या विस्तृत क्षेत्र में उथले या बिखरे हुए काम करें, इस प्रकार का प्रश्न कभी-कभी कार्यकर्ता के सामने पैदा होता है। परन्तु हमारे मत से कार्य की गहराई और विस्तार परस्परावलम्बी और परस्पर-पोषक ही हैं। बहुधा सुधार विचारों की क्रान्ति पर अवलम्बित रहते हैं। उनमें रूढ़ि, धारणा, विचार-प्रवाह, ऊँच-नीच की भावना और मूल्यांकन-सम्बन्धी दृष्टिकोण बदलना पड़ता है। इस प्रकार की विचार-क्रान्ति केवल छोटे से क्षेत्र में ही प्रयत्न करके नहीं लाई जा सकती। जिस प्रकार किसी बड़े तालाब के किनारे रहने वाला मनुष्य कहे कि—"मैं अपने घर के सामने के तालाब को साफ रक्खूँगा" तो उसका व्यर्थ प्रयत्न है उसी प्रकार शराब-बन्दी, स्त्री-शिक्षा, चर्खा-प्रचार, कृषि-सुधार, शिक्षा-सुधार जैसे कोई भी काम लें तो बड़े क्षेत्रों में उनके विचारों का प्रचार किये बिना छोटे क्षेत्र में उनका पूर्णतः आचरण करवाना सम्भव नहीं

होता। मनुष्यमात्र में खुद अपने भी सुधार या कल्याण के लिए एक प्रकार का आलस्य, सुस्ती या ढील-ढाल होती है। शायद समाज-प्रिय होने के कारण मनुष्य को बिना साथियों के आगे पैर बढ़ाना अच्छा नहीं लगता। कारण कुछ भी हो; लेकिन इतना तो सत्य है कि जब कोई विशेष सुधार लोगों को जँच भी जाता है तब भी वे उसे अंगीकार नहीं करते और उलटे त्रस्त होकर मन में कहते हैं कि ये सुधारक अकेले मेरे ही पीछे क्यों लगते हैं? हमीं ने कौन सा गुनाह किया है। जबकि और सब सोये हुए रहते हैं तो केवल मुझे ही उठना अच्छा नहीं लगता। प्रभाती बालक श्री कृष्ण को —"जागिये ब्रज-राज कुंवर पंछी बन बोलें" इस तरह भैया-दादा करके उठाती है। इसी तरह सेवक भी यदि लोगों को ऐसा आश्वासन दे सके कि "दूसरे लोग भी आपके साथ हैं" तो उसका काम सरल हो जायगा।

जिस काम में विचार-क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती, काम की इष्टता के लिए एक मत होता है और प्रश्न केवल लगन वाले कार्य-कर्ताओं के ही प्राप्त करने का होता है वहीं सिर्फ मर्यादित क्षेत्र में तीव्र काम करना उचित होता है। उदाहरणार्थ:रोग का दौर-दौरा है और उसके निवारण के प्रयत्न तथा दुखियों की सेवा करने के लिए सेवकों की जरूरत है। ऐसी जगह जितनी हो सके उतनी सेवा करने के लिए लोग तैयार ही रहते हैं। यह काम ही ऐसा है कि अधकच्चरे काम का अधिक उपयोग नहीं होता। जब पूरी तरह से रोग की छूत मिटा दी जायगी तभी उसका उपयोग होगा। भूकंप, महाबाढ़ आदि आपत्तियों के मौकों पर भी लगातार काम करना सुलभ और आवश्यक होता है परन्तु उनकी जगह यदि अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा का प्रश्न लें तो जब तक सब जगह शिक्षा की मात्रा और अभिरुचि काफी तौर पर नहीं बढ़ जायगी तब तक किसी विशेष टापू में अनिवार्य शिक्षा सफल नहीं होगी।

इस प्रकार विस्तृत क्षेत्र का प्रचार-कार्य मर्यादित क्षेत्र के काम का आधार होता है लेकिन इसके उलटा कहीं पर भी प्रत्यक्ष रूप से ठोस काम करके दिखाये बिना विस्तृत प्रचार को बल नहीं मिलता। विस्तृत प्रचार और गहरा काम, काम की दृष्टि और उसके अनुसार सृष्टि ये दोनों ही एक दूसरे के पोषक हैं। वृक्ष बढ़ता है तो उसे जड़ और सिरे की पत्तियाँ दोनों से ही पोषण मिलता है। सेवक को अपनी परिस्थिति तथा शक्ति और योग्यता को देखकर ही एक या दोनों दिशाओं में काम करना चाहिए।

कोष या चन्दा—बहुत से सार्वजनिक कामों के लिए अर्थात् समाज की भलाई के लिए और समाज की ओर से किये जाने वाले काम के लिए धन की जरूरत पड़ती है। जिस तरह सेवकों के निर्वाह के लिए रुपये-पैसे की जरूरत होती है उसी तरह प्रत्यक्ष सेवा-कार्य के लिए भी धन कीजरूरत होती है। और धन चन्दे के रूप में लोगों से इकट्ठा करना पड़ता है। सार्वजनिक काम का भार उठाने वाले सेवकों के कार्य-क्रम में चन्दा इकट्ठा करने की बात का भी आवश्यक और महत्वपूर्ण स्थान अवश्य होता है।

आपत्ति-निवारण-जैसे काम, जिनमें मत-संचार की आवश्यकता नहीं होती, बड़े-बड़े धनियों की मोटी-मोटी रकमों या सरकारी ग्रांट से चलाने में हर्ज नहीं है। ऐसे कामों के लिए भी बड़े लोगों से काफी सहायता नहीं मिलती, अतः गरीब लोगों से ही थोड़ी-थोड़ी रकम माँग कर निधि एकत्र करना आवश्यक होता है। सूक्ष्म संशोधन, उच्च विद्या-व्यासंग आदि प्रकार के काम सरकार या छोटे-छोटे धनिकों की सामूहिक सहायता से ही चला सकते हैं। परन्तु प्राथमिक या प्रौढ़ शिक्षा, चर्खा-प्रचार जैसे जनता के प्रत्यक्ष हित के काम, तैसे ही हरिजन-सेवा, दलित सेवा, शराबबन्दी आदि मत-प्रचार पर अवलम्बित रहने वाले काम तथा किसान व मजदूरों का संगठन, हिन्दू-संगठन और मुस्लिम संगठन जैसे-संगठनात्मक काम (यदि उन्हें इष्ट या विशेष

मर्यादा में इष्ट मान लें तो) अथवा बड़े आदमियों के सत्कार या स्मारक के रूप में चलाये जाने वाले काम अथवा सर्वस्पर्शी राष्ट्रीय काम और हलचल के लिए आवश्यक धन सार्वजनिक चन्दे के तौर पर इकट्ठा करना आवश्यक ही नहीं, इष्ट भी होता है। इस प्रकार निधि-संग्रह सेवा-कार्य में एक आवश्यक तथा महत्व का कार्यक्रम बन जाता है। अतएव उसके ठीक तरीके के सम्बन्ध में यहाँ थोड़ा सा विचार कर लेना आवश्यक है।

खुशी से दिया हुआ दान ही लें—निधि चाहे सेवक के निर्वाह के लिए हो चाहे काम के खर्च के लिए वह दाता-द्वारा कार्य-प्रेम से प्रेरित हो अपनी खुशी से ही दी जानी चाहिए। दाता को वह जुल्म-जैसा न लगना चाहिए। धन के साथ ही सेवक की दृष्टि आशीर्वाद और लोकमत का समर्थन प्राप्त करने की होनी चाहिए। निधि का अंक लोकमत की अनुकूलता का निदर्शक होना चाहिए। चन्दा इकट्ठा करते समय भीड़-भाड़, खुशामद, फुसलाहट, डाँटडपट, झाँसापट्टी, रूठ जाना आदि आपत्तिजनक तरीके जरा भी काम में नहीं लेने चाहिएँ। धन के साथ ही साथ मनुष्य जोड़ने की भी दृष्टि रखनी चाहिए। पैसा तो इकट्ठा कर लिया लेकिन यदि दाता का मन खट्टा हो गया तो यह सोने के अण्डे के लिए अण्डे देने वाली मुर्गी को ही मारने-जैसा होगा। कार्य की इष्टता, दान देने का कर्तव्य कार्यकर्त्ताओं की सच्चाई और कार्य-कुशलता, चालू कार्य की सफलता और उसे लोगों द्वारा मिलने वाला समर्थन इतनी बातें सेवक को दाता के सामने अच्छी तरह रखनी चाहिएँ। कार्य की उपयोगिता के साथ ही साथ जिनके हाथों में निधि सौंपी जाती है उनकी लगन व कार्य-कुशलता का भी महत्व रहता है। उसी तरह यदि अपना दान सार्थक होता हो, काम सफल होने वाला हो और उसे यह भी प्रतीत हो कि इस दान का भार अकेले मुझी पर नहीं पड़ेगा, बल्कि मेरे पास-पड़ोसी, व्यवसाय-बन्धु व समानशील लोग भी उसमें भरसक सहायता देते हैं तो दाता

को मदद देने में विशेष उत्साह मालूम होता है। उसकी यह इच्छा कि मुझ पर दूसरों के साथ-साथ अथवा उनके अनुपात में भार पड़े तो यह चाहे स्तुत्य न हो, पर अनुचित भी नहीं है। इसलिए दूसरों ने जो रकमें दी हैं उनके सही अंक भी दाता को दिखाने चाहिएँ, दान की सूची प्रकाशित करनी चाहिए और किसी खास क्षेत्र या वर्ग के लोगों से ही चन्दा लेकर दूसरों को जानबूझ कर और आलस्य से नहीं बल्कि समय के अभाव में भी टालना नहीं चाहिए।

यदि ऐसा दिखाई दे कि दाता नाराजी से या मजबूरी से देता है अथवा टालटूल या आनाकानी करना चाहता है तो सेवक को चाहिए कि उसे आसानी से छुट्टी दे दे। परन्तु यदि किसी खास कार्य का महत्व दाता को न मालूम हो अथवा दूसरा खर्च आ पड़ा हो या सेवक जितनी समझता है उतनी शक्ति दाता की न हो या किसी और कारण से अथवा सेवक की कार्य-क्षमता के सम्बन्ध में पूरा विश्वास न होने से दाता सेवक की अपेक्षा से कम दान देता हो तो सेवक को रूठ जाना उचित नहीं। उसी तरह छोटी से छोटी रकम को भी इन्कार करने का अधिकार सेवक को नहीं है। दाता यदि हमारे काम के प्रति तो नापसन्दगी दिखलाये, परन्तु यदि इस भाव से कि आप आ ही गये हैं तो दे देता हूँ दान दे तो सेवक को चाहिए कि वह उसे नम्रता-पूर्वक परन्तु साफ तौर पर इन्कार कर दे। किन्तु यदि संस्था के व्यवस्थापकों अथवा स्वतः चन्दा माँगने आये सेवक की सच्चाई की वह छानबीन करे या उस पर सन्देह प्रदर्शित करे तो सेवक को उसमें अपमान न मानते हुए उसके समाधान करने का प्रयत्न करना चाहिए। और यह समझना चाहिए कि यह अपनी संस्था की सचाई साबित करने का एक अमूल्य अवसर मिला है। यदि दाता दूसरे कामों की जल्दी में सेवक से कहे कि फिर किसी वक्त आइये तो सेवक उसे एक अनिवार्य अड़चन समझकर स्वीकार कर ले।

निधि-संग्रह में सेवक की बहुत थोड़ी शक्ति लगकर अधिकांश शक्ति प्रत्यक्ष सेवा-कार्य के लिए बाकी रखना जरूरी है। यदि धन प्राप्त करने में ही सेवक का तन-मन जरूरत से ज्यादा खर्च होता हो तो उसे समझना चाहिए कि अपने कार्य की योजना पद्धति में कहीं न कहीं गलती हो रही है और सेवक को उसमें आवश्यक सुधार करना चाहिए। संभव है, वह कार्य ही वास्तव में अनुचित हो अथवा उचित होकर भी लोगों को आवश्यक न मालूम होता हो, वर्तमान समय उसके लिए अनुकूल न हो अथवा कार्यकर्त्ता में ही कोई दोष हो, ऐसी दशा में सेवक को आत्म-संशोधन करना चाहिए और जरूरत दीखे तो चन्दा जमा करने की तरफ कम ध्यान दे और अनायास जो रुपया मिल जाय उसी के सहारे रहकर अपने तन-मन का उपयोग इष्ट कार्य में अधिक एकाग्रता से करे।

आड़ी-टेढ़ी रीति—धन-संग्रह के निमित्त से और उसके साथ ही साथ मत-प्रचार व लोक-संग्रह करने की दृष्टि सेवक की होनी चाहिए। इस दृष्टि से जिस-जिस कार्य के लिए धन की जरूरत हो उसी कार्य व कार्यकर्त्ता के नाम पर उसे माँगना चाहिए। यह धन एकत्र करने की उचित रीति है। सेवक को चाहिए कि वह धन एकत्र करने में आड़े-टेढ़े तरीकों से काम न ले। कोष के लिए लाटरी निकालने की रीति का निषेध पहले ही किया जा चुका है। निधि के लिए धर्मार्थ नाटक करवाना और उनके टिकिट बिकवा कर कोष जमा करना, लाटरी की तरह निंद्य न होने पर भी सेवा-कार्य को शोभा नहीं देता। इसमें हमारा उद्देश यह नहीं है कि नाट्यकला अथवा रङ्गभूमि को बुरा बताया जाय, बल्कि हमारा आक्षेप तो उस टेढ़े रास्ते की तरफ है जो मुख्य काम को चलाने के लिए ऐसी वैसी बातों का समर्थन करता हो। फिर यह कार्यकर्त्ताओं के द्वारा ऐसा मान लेने के बराबर है कि असली काम का महत्व नाटक के बराबर नहीं। उस कार्य के लिए नाटक के वसीले की जरूरत रहती है। इससे उस भी हानि

होती है और लोगों को भी गलत मार्ग दिखाने-जैसा होता है। इसके अलावा बहुधा नाटक-मंडलियों को खर्चे के लिए कुछ रकम देनी पड़ती है। और उनका सम्मान करना पड़ता है एवं अन्त में छीज मंजूर करके—अव्यापारेषु व्यापार करके भी वह निधि नाममात्र को ही प्राप्त होती है।

विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कार्यकर्त्ताओं को जो निधि चाहिए वह उस कार्य अथवा उन्हीं कार्यकर्त्ताओं के नाम से न माँग कर किसी बड़े बाहर के नेता के सत्कार अथवा स्मारक के नाम से पैसे इकट्ठा करना-और उसी के लिए उस नेता की भी खास तौर पर तारीफ करना, यह भी कुछ अप्रमाणिक-जैसा ही लगता है। यदि स्वतन्त्र रीति से नेता का सत्कार अथवा स्मारक करना तय पाया हो तो फिर उसे उस नेता की रुचि के लोकोपयोगी कार्य के रूप में ही करना चाहिए और उसके लिए प्रयत्न करने में कोई बुराई नहीं है।

हर किसी से दान ले लेना—यह तो ठीक है कि सेवक ऐसे-वैसे उपायों से धन-संग्रह न करे, परन्तु दाता जो धन देता है वह उसने किस मार्ग से प्राप्त किया है इसकी छानबीन करने की विशेष जरूरत सेवक को नहीं है। संशयास्पद मार्ग से प्राप्त धन भी यदि दाता पश्चात्ताप की या प्रायश्चित्त की भावना से सत्कार्य में देना चाहता हो तो वह धन पवित्र ही है। इसलिए सेवक को चाहिए कि जो धन दाता इच्छा से दे उसे इन्कार न करे। परन्तु यहाँ भी कुछ अपवाद करने होंगे। जिस तरह चोरी का माल खरीदना गुनाह है उसी तरह चोरी का दान लेना भी गुनाह ही है। यदि दान देने में दाता की भावना पश्चात्ताप की अथवा कार्य-प्रेम की न हो बल्कि अपने दुष्कर्मों को ढाँकने का और उन्हें सतत चालू रखने का ही उसका इरादा दिखाई दे तो सेवक को उसे समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। विशिष्ट दान को (कारण न बताते हुए) अस्वीकार करने का अधिकार संस्था के संचालक-मंडल को होना चाहिए।

कोष की मर्यादा—संस्था को अपनी स्थिति के अनुसार अपने प्रतिग्रह अथवा दान ग्रहण करने में मर्यादा डाल लेनी चाहिए। कार्य की भूख अथवा पाचन शक्ति से अधिक दान लेने में कोई हित नहीं। सेवा-कार्य में भी बहुत ज्यादा खा लेना बाधक ही होगा। सेवक में आत्म-पावित्र्य की भावना तो न होनी चाहिए, परन्तु तन-मन ये धन से भी श्रेष्ठ हैं और धन को उनके अंकित रहना चाहिए, धन के मुँह में वे समा न जावें, ऐसी आत्म-विश्वास की भावना वह अवश्य रखे। और प्रतिग्रह के बारे में पूँछ हिलाने इत्यादि प्रकार की श्वान-वृत्ति न धारण करते हुए धीरोदात्त केसरी-वृत्ति ही रखनी चाहिए।

स्थायी निधि—जरूरत से अधिक निधि-संग्रह हानिकारक है। उसी तरह स्थायी कोष भी कार्य के लिए मारक हो जाता है। संस्था का एक स्थायी कोष हो और उसके ब्याज से काम चले अथवा किसी प्रसंग पर संस्था को लोकाश्रय मिलना कठिन हो गया या बंद हो गया तो उस संचय का उपयोग कर लेंगे, यह खयाल बिलकुल गलत है। स्थायी कोष के कारण सेवकों में सुस्ती और लापरवाही आ जाती है और संस्था पर कब्जा करने के लिए बहुधा झगड़े भी हो जाते हैं। जब तक लोगों को हमारे काम की आवश्यकता महसूस होती है और कार्यकर्त्ता विश्वास योग्य है तब तक तो लोग संस्था को आवश्यक धन देते रहेंगे और जब संस्था लोगों का विश्वास खो बैठे तब उसे जीने का कोई अधिकार ही नहीं है। स्थायी कोष के कारण "सेवक की सुविधा" होने के बजाय, सुविधा के पीछे नामधारी सेवक खिंचते जाते हैं और अनेक प्रकार के मिथ्याचार वृद्धि पाते हैं। धनाढ्यता जब संसारी लोगों की भी अवनति का कारण होती है तब सेवकों की तो बात ही अलग है।

११

सेवक चाहिए

यहाँ तक सेवा-कार्य का व सेवक की श्रद्धा, दृष्टि, वृत्ति इत्यादि का वास्तविक विवेचन हुआ। सेवा एक पवित्र वस्तु है, परन्तु पवित्र वस्तु के ही कलुषित और इसलिए उलटा अधिक हानिकर बनने का अन्देशा रहता है। इसलिए सेवा-पथ के पथिक को आगे की यात्रा में सहायता देने के लिए कुछ सुझाव पेश किये गये हैं, और इसी दृष्टि से यह विवेचन किया गया है।

ऐसे अनेक युवक जगह-जगह मिलते हैं जिनकी यह स्वाभाविक और हार्दिक इच्छा होती है कि हम कुछ-न-कुछ देश की, समाज की सेवा करें, परन्तु उन्हें उचित पथ-दर्शन नहीं मिलता और इस कारण उनकी—"यथा सांग, हाँ, कर्म होता नहीं है, किये कर्म का पुण्य पाता नहीं है" ऐसी स्थिति होती है। जो लोग आगे चलते हैं उनका अनुभव पीछे चलने वालों को मिलना मनुष्य-जाति की उत्तरोत्तर प्रगति का साधन है। पूर्वोक्त विवेचन को सम्पूर्ण तो नहीं ही कह सकते बल्कि अचूक होगा, यह भी नहीं कह सकते। वह ज्यादा गहरा, सूक्ष्म, या ग्राही तो निश्चय ही नहीं है फिर भी प्रस्तुत लेखक ने २०-२५ साल के पिछले अनुभव, जो उसे अपने बड़े-बूढ़ों व जानकारों से पूछ-पूछकर या खुद चलते हुए गिरते-पड़ते हुए हैं और उनसे उत्पन्न विचार अपने साथियों और पीछे आने वाले यात्रियों की जानकारी और परीक्षण के लिए अपनी बुद्धि व लेखन-शक्ति के अनुसार उनके सामने उपस्थित करना अपना कर्त्तव्य समझकर यह प्रयत्न किया है।

सहधर्मियों को चाहिए कि वे उसमें से सार-मात्र ग्रहण करें, असार छोड़ दें और दोषों को सुधार लें।

देश-सेवा का कार्यक्रम—अब मैं ऐसी उत्कंठा रखने वालों के लिए कि "हम कुछ-न-कुछ लोक-सेवा करते रहें, लोगों के जो अनेक प्रकार के ऋण हमारे ऊपर हैं उनसे अंशतः भी उऋण हो जावें, संसार का दुःख-भार हमारे आचार-व्यवहार से बढ़े नहीं, हो सके तो हल्का किया जाय, पूर्वजों के पुण्य से हमें इस संसार में हर तरह की सुख-सुविधा, ज्ञान, व सौन्दर्य का लाभ मिल रहा है, उसी प्रकार हम अगली पीढ़ियों के लिए संसार को अधिक सुखी, सद्ज्ञानी और सुन्दर छोड़ कर जायँ"—और ऐसी उत्कंठा से सम्पूर्णतः मुक्त कौन है?—सेवा का कितना विविध और विस्तृत क्षेत्र सामने पड़ा हुआ है, इसका दिग्दर्शन थोड़े में करने का यहाँ विचार है।

पहले यह दिखा चुके हैं कि जग की सेवा व्यवहारतः व स्थूल रूप से देश-सेवा का ही स्वरूप ग्रहण कर लेती है। और अपने देश की सीमा के बाहर का—अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-क्रम बनाने की क्षमता खुद लेखक भी नहीं रखता।

मातृभूमि—हमारा हिन्दुस्तान देश—एक ओर पर्वतों की गगन-भेदी श्रेणियों से और दूसरी ओर असीम महासागर से घिरा हुआ, गंगा, यमुना, सिन्धु, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी इन सात नदियों के पवित्र प्रवाह में नहाता हुआ; सुविस्तृत, प्राचीन, समृद्ध हम चालीस करोड़ स्त्री-पुरुष का देश—राम और कृष्ण, बुद्ध और महावीर, बसव और नानक, तुलसीदास और कबीर, अशोक और अकबर, शिवाजी और प्रताप, चाँदबीबी और अहल्या देवी, इनकी भूमि। वेद, उपनिषद् जैसे तत्व-ज्ञान-सम्बन्धी सर्वोत्तम ग्रन्थ सबसे पहले यहीं निर्मित हुए; ताज-महल-जैसी अनुपम कला-कृति को इसी भूमि ने जन्म दिया। इस भूमि का प्रत्येक कण वीरों के रक्त से और महात्माओं के चरण-

स्पर्श से पवित्र हुआ है। ऐसी यह हमारी धन्य-भूमि, और हम उसकी धन्य सन्तान!

इस भूमि का हम पर अपार ऋण है। इसी की मिट्टी से हमारा शरीर बना, इसके अन्न से हमारा पालन-पोषण हुआ; और अन्त में इसी के उदर में हम जाने वाले हैं। सुख-सुविधा, विद्या, कला, सम्पर्क संगत सब इसी ने हमें दिया। इसलिए इसकी अर्थात् हमारे देश-बन्धुओं की—हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिख, जैन इत्यादि, कराची से कामरूप, और काश्मीर से कन्याकुमारी तक बसे हुए चालीस करोड़ भाई-बहिनों की—सेवा करना यही हमारा अधिकार और यही हमारे जीवन की सफलता।

सेवा करने की आवश्यकता अनेक तरह से है। इसके लिए सच्चे सेवक ही चाहिएँ। क्योंकि भारतीय जनता आज हर प्रकार के दुःखों से अभिभूत है।

गुलामी—पहला प्रश्न है गुलामी का। मुट्ठी भर अँग्रेज सात समुद्र पार से यहाँ आकर हम चालीस करोड़ लोगों को हाँक रहे हैं। सारी सत्ता, सारे अधिकार, विदेशियों के हाथों में। वे हुक्म देते रहें और हम भी चुपचाप बजाते रहें। हम किससे लड़ें और किससे मित्रता करें, कौन मित्र और कौन शत्रु, किसके साथ व्यापार करें किससे कर्ज लें, क्या भाषा बोलें, कैसे कपड़े पहनें, कैसी शिक्षा लें, इस सबका निर्णय वे करेंगे। इस बात की कोई वकत नहीं कि हम क्या महसूस करते हैं, हमें क्या पसन्द है, क्या जँचता है, क्या माफिक होता है। उद्योग, आर्थिक व्यवहार सब कुछ गैरों के हाथ में है।

जब खुद अपने ही देश में हमारी यह स्थिति है तब विदेशों में हमारी क्या पूछ! पेट के लिए यदि परदेश जाते हैं तो वहाँ भी कदम कदम पर अपमान और तिरस्कार हमारे पल्ले पड़ते हैं।

राज्य-संस्था मनुष्य के सांघिक जीवन की प्रमुख संस्था है। जब वही दूषित हो गई तो उससे सारा सांघिक जीवन ही दूषित हो गया है।

'राजा कालस्य कारणम्' दंड की सत्ता बेरोक चलती है। प्रेम की सत्ता मानने को कोई तैयार नहीं। भीरुता बढ़ गई, स्वाभिमान नष्ट हो गया। हमारे साथ जो तुच्छता का व्यवहार करता है उसके प्रति हमें आदर होता है, उसकी धाक हम पर जमती है। स्वाभिमान-शून्य मनुष्य के नजदीक धाक से भिन्न आदर हो सकता है या नहीं, इसकी शंका ही है।) और जो हमारे साथ तुच्छता का व्यवहार नहीं करता वह हमें तुच्छ मालूम होगा। गुलामी का अर्थ है अपनों की अवहेलना और दूसरों के सामने घुटने टेकना। आपस में अनबन, और दूसरों का आज्ञा-पालन। परदास्य—गुलामी—का अर्थ है स्वार्थ के लिए बन्धु-द्रोह। दास्य का अर्थ है, पुरुषार्थ-हीनता, परावलम्बन, परदयानिर्भरता, ऐदीपन, भाग्यहीनता, निराशावाद; दास्य के मानी हैं मिथ्याचार, उगते सूर्य को नमस्कार और डूबते हुए पर शापाचार। दास्य का अर्थ है शील का लोप, भय का राज्य और प्रीति व नीति की नष्ट-भ्रष्टता। परदास्य का अर्थ है मनुष्यता से नाता तोड़ देना।

इसके विपरीत स्वराज्य का अर्थ है स्वावलम्बन, अपनों पर अवलम्बन, बन्धु-प्रेम, संघ-निष्ठा, स्वाभिमान व आत्म-विश्वास। दूसरे शब्दों में ईश्वर पर विश्वास।

परतंत्रता की बदौलत देश का शोषण हुआ। व्यापार, उद्योग-धंधे नष्ट हुए और देश दरिद्र हो गया। परन्तु इससे भी अधिक शोचनीय बात यह है कि हममें से नागरिकता की भावना, यह भान कि हम भी राज्य-संस्था के घटक हैं, सरकार हमारे सहयोग से ही चलती है, सरकार के कृत्यों के लिए व हमारे आस-पास जो कुछ भली-बुरी बातें हो रही हैं उनके लिए हम भी अंशतः जिम्मेदार हैं, साथ ही यह तेजस्विता कि बुरी बातों को दूर करना हमारे अधिकार में है, हमारे अन्दर से नष्ट हो गई। यदि हमारी आँखों के सामने कोई गुंडा गरीबों को सता रहा है तो उसे हम पुलिस और मजिस्ट्रेट की जिम्मेदारी

समझ कर खामोश हो जाते हैं। सच्ची गवाही देने की अपनी जिम्मेदारी भी हमें मंजूर नहीं।

सच पूछिए तो सरकारी नौकर जनता का नौकर है। परन्तु विदेशी शासन में वह अपने को प्रजा का पीड़क व भक्षक समझता है। प्रजा भी उसको वैसा ही समझती है। सरकार को धोखा देना, फँसाना, चकमा देना, इसमें लोगों को कुछ अनुचित मालूम ही नहीं होता, उलटा ऐसा करने में उन्हें शाबाशी मालूम होती है। 'सरकार की सहायता करने' जैसा निन्द्य अपराध दूसरा कोई नहीं! सरकारी नौकर की जो स्थिति है वही परम्परा से लोकल बोर्ड, म्युनिसिपिलटी के काम की, व निजी नौकर की भी, हो गई है। "जिसकी रोटी खावें उसका गाना (सिर्फ उसके सामने) गावें।" और उसकी पीठ पीछे उसे गड्ढे में उतारने की तजवीज करना यह शिष्टाचार बन गया है। सारा राष्ट्रीय शील ही बिगड़ गया है। बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंगडन ने एक बार गांधी जी से कहा था कि हिन्दुस्तानियों में 'नहीं' कहने का साहस नहीं है। पराधीन-वृत्ति का ही यह परिणाम है।

यही परदयावलंबिनी वृत्ति हमारी शिक्षा, भाषा, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, आपसी अनबन, इत्यादि सबमें दिखाई पड़ती है। परतन्त्रता की बदौलत हमारी आर्थिक हानि तो हुई ही, परन्तु हमारी नीयत भी बिगड़ गई। यह उससे भी गहरा नुकसान हमारा हो गया। हमें जो स्वराज्य प्राप्त करनें की जरूरत है वह इसलिए नहीं कि अँग्रेज दुष्ट या दूसरों से ज्यादा लोभी हैं और इसलिए हमें उनकी सत्ता दरकार नहीं, बल्कि इसलिए कि हम खुद ही नादान न रहें और अँग्रेज तथा दुनिया के बिगाड़ के कारण न बनें तथा हम अपना, उनका और संसार का हित साध सकें।

यह कहने की जरूरत नहीं है कि हमारा यह स्वराज हुकुमशाही न होकर लोकशाही होगा। यह न समझना चाहिए कि महज अँग्रेजों का दबाव या दबदबा दूर हो जाने से लोकशाही—प्रजा सत्ता—की

स्थापना हो जायगी। लोकशाही का अर्थ है सबके लिए समान अधिकार। किसी भी व्यक्ति, वर्ग या प्रान्त की सत्ता दूसरों पर न रहे; "जैसे हम वैसे ही सब" और "जैसे सब वैसे ही हम" ऐसी स्थिति प्रत्येक नागरिक की हो जानी चाहिए।

यह ध्येय सत्य और न्याय नीति के अनुकूल ही है और इसलिए यह सत्य और अहिंसामय मार्ग से—सत्य अहिंसामय मार्ग के द्वारा ही—प्राप्त किया जा सकता है। अब तक जो विवेचन किया गया है, उससे यह बात ध्यान में आ ही गई होगी कि राजनीति में भी हमारी दृष्टि का पारमार्थिक ही रहना जरूरी है। देश-भक्ति का अर्थ सामुदायिक स्वार्थ-साधुता नहीं। यह कहना कि राजनीति में सच-झूठ, नीति-अनीति इत्यादि-सम्बन्धी विधि-निषेध रखना जरूरी नहीं है, मानों सार्वजनिक जीवन से नीति और सदाचार को धता बता देना है और ऐसा हुआ तो फिर घरेलू जीवन में से भी नीति-सदाचार को धक्का मिलने में देर न लगेगी। पानी का प्रवाह एक बार ढालू जमीन की ओर से रोक लेना सम्भव है, परन्तु मानवी बुद्धि का परमार्थ की ओर बहाव रोकना असम्भव है।

जो स्वराज हम चाहते हैं वह ब्रिटिश पार्लमेंट के किसी कानून से अथवा हिन्दुस्तानी-अंग्रेज-सन्धि से प्राप्त होने जैसा नहीं। उस स्वराज को विलायत से हवाई जहाज से नहीं लाना है। बल्कि वह यहीं की भूमि में बोना और उगना चाहिए। इसके लिए हमें हिन्दुस्तान के ही देहात में लम्बे अर्से तक तरह-तरह से मेहनत करनी चाहिए। हां! यह कहने में कोई बाधा नहीं है कि कानून अथवा सन्धि-पत्र इस स्वराज्य-मन्दिर का प्रवेशद्वार है।

परन्तु इस प्रवेश-द्वार तक पहुँचने के लिए भी हमें भगीरथ प्रयत्न करने होंगे। ऐसे लाखों जोगियों की जरूरत है जो स्वराज्य के लिए छटपटाते हों, जो स्वराज्य के व्रती हों, उसी का दिन रात जप करते हों। ऐसे वीर जो कभी-कभी आन्दोलन के बहाव में बहकर आ गये

और एक-आध गोता लगाकर फिर हमेशा के लिए देश को भूल गये, इस काम के लिए काफी नहीं हैं।

शिक्षा और संगठन—जनता को राजनीतिक शिक्षा देनी चाहिए। राजनीतिक जीवन का ताना-बाना उन्हें खोलकर बताना चाहिए। आजतक के किये गये प्रयत्नों की, देश के भिन्न-भिन्न पक्ष और उप-पक्षों की, व उनके कार्यों की जानकारी उन्हें देनी चाहिए। उन्हें यह भी बता देना चाहिए कि विदेशी सत्ता के आधारस्तंभ हम खुद ही हैं। स्वराज्य की इष्टता और आवश्यकता कितनी है, स्वराज्य प्राप्त करना किस तरह हमारा कर्त्तव्य है, उसे प्राप्त करने के उपाय क्या हैं, सत्य, अहिंसा किस प्रकार श्रेष्ठ है, हमारी कार्य-पद्धति क्या होनी चाहिए और उसके लिए कितना सामर्थ्य होना चाहिए, लोकशाही का अर्थ, उसकी सहचारी भावना, वर्तमान शासन-विधान और शासन-पद्धति, मतदाताओं के कर्त्तव्य, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक समता की इष्टता और उसे कार्यान्वित करने का कार्यक्रम, आपसी अनबन को मिटाकर एकता करने की आवश्यकता इत्यादि बातें लोगों को समझा देनी चाहिएँ।

शिक्षा के साथ ही संगठन भी करना चाहिए। एक ऐसी महान् संस्था होनी चाहिए जो स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सत्य-अहिंसा के अनुकूल सब उपायों से काम करे और जो सारे हिन्दुस्तान की वर्ग-जाति-निरपेक्ष संस्था हो। इस संस्था को ही अपनी वास्तविक सरकार मानकर उसके प्रति राजनिष्ठा और आज्ञापालन की भावना नागरिकों में पैदा करनी चाहिए। किसी विदेशी, बनावटी और बलिष्ठ तथा जालिम राजा ने छल-कपट, अथवा शस्त्रबल से, सचमुच के राजा का सिंहासन छीनकर उसे अपने देश से निकल कर जंगल-जंगल भटकने पर पर मजबूर कर दिया हो, तो भी उसकी प्रजा उस अभिषिक्त राजा से बेवफ़ा न होगी। उस विदेशी, बलिष्ठ, आक्रमणकारी के सामने सिर झुकाना अपकीर्ति की बात तो है ही, परन्तु घृणित राजद्रोह और

देश-द्रोह भी है। इसी तरह जो लोक-संमत स्वराज्य-संस्था स्थापित करने का हमारा निश्चय है, वही हमारी भावी राज्य-संस्था है और वही हमारा सच्चा अभिषिक्त राजा है। उस राजा के प्रति हमारी राज-निष्ठा समर्पित है। उस राजा को वनवास से लौटा लाकर फिर से अपने सिंहासन पर स्थापित करने के लिए प्रजा को संगठित करने वाली, जो हमारी स्वराज्याकांक्षी संस्था है वही हमारे राजा का सेनापति है। हम सैनिकों को चाहिए कि उस सेनापति के अनुशासन में रहें और तत्परता से उसकी आज्ञा का पालन करें। इस भावना को राष्ट्र-व्यापी बनाने के लिए हजारों कार्यकर्त्ता चाहिएँ।

राष्ट्र-निर्माण—परन्तु केवल दूसरों को निकाल भगाने से हमारा काम पूरा नहीं होता। हमें अपना राजा किसी जंगल से नहीं लाना है बल्कि जनता में से ही खड़ा करना है। 'राष्ट्रीय सरकार' स्थापन करने से पहले 'भारतीय राष्ट्र' तैयार होना चाहिए। 'स्वतन्त्र हिन्दुस्तान' निर्माण करने के पहले 'हिन्दुस्तान' निर्माण करना चाहिए।

हमारा राष्ट्रीय जीवन बहुत ढीला और विशृंखल हो गया है। हिन्दू-मुसलमानों की अनबन तो मानो लकवा का ही एक हमला है। परन्तु हिन्दू-हिन्दुओं में और मुसलमान मुसलमानों में क्या कम झगड़े हैं? ब्राह्मण-अब्राह्मण, छूत-अछूत, शिया-सुन्नी, इतना ही नहीं बल्कि मराठी-गुजराती, आन्ध्र-तामिल, बंगाली-बिहारी, ऐसे नाना प्रकार के टेढ़े-तिरछे छेदों से, राष्ट्र के टुकड़े होते दीखते हैं। इन टुकड़ों को जोड़कर एक जीव, एक तान, एक दिल हिन्दुस्तान हमें निर्माण करना चाहिए। मैं ब्राह्मण, मैं मराठा, मैं भंगी, मैं कायस्थ, मैं कान्हड़ी, मैं पंजाबी ऐसे लघु अभिमानों को छोड़कर हमें "मैं हिन्दुस्तानी हूँ, सारा हिन्दुस्तान मेरा है, मेरे चालीस करोड़ भाई-बहन हैं," ऐसा उदात्त अभिमान हमारे मन में अंकित होना चाहिए। पारस्परिक अविश्वास को जीत कर स्नेह जोड़ना चाहिए। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सिक्ख, जैन इन सब को एक दूसरे की भाषा, लिपि साहित्य, कला,

रीत-रिवाज इत्यादि का गुण-ग्राहक दृष्टि से अध्ययन करना चाहिए। अविश्वास के लिए मन की संकुचितता के अलावा अज्ञान और अपरिचय भी कारणी-भूत होते हैं। पारस्परिक गुण-ग्राही परिचय से एक दूसरे की संस्कृति और रीति-रिवाज सम्बन्धी अच्छी बातों का परस्पर लेन-देन होकर एक सर्व-गुण-सम्पन्न सामुदायिक संस्कृति निर्माण होगी।

एक दूसरे के धर्मों के अध्ययन से सर्व-धर्म-सम भाव दृढ़ होगा; "एक हमारा ही तो धर्म और बाकी सब अधर्म" यह भ्रमपूर्ण और घातक कल्पना दूर हो जायगी। हम यह समझ जायँगे कि दूसरे धर्म भी हमारे ही धर्म के नये पुराने संस्करण हैं। एक ही वक्ता के एक ही विषय के भिन्न व्याख्यानों में जिस प्रकार प्रतिपादन की भिन्नता हो सकती है, परन्तु विरोध नहीं होता; बल्कि वे विभिन्न व्याख्यान एक दूसरे के पूरक ही होते हैं, इसी तरह ये भिन्न-भिन्न धर्म, भिन्न-भिन्न स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न विषय उपस्थित करते हैं, परन्तु उनके प्रतिपाद्य तत्व एक ही हैं, इससे अन्य धर्मों का पड़ोस होने से हमें विषाद न होते हुए, उलटा उनकी संगति का आनन्द मालूम होने लगेगा।

इसके लिए ऐसे साहित्य-सेवक और कला-उपासक चाहिएँ जो एक दूसरे के धर्म, साहित्य, कला इत्यादि का अध्ययन, सद्भावना से करें और उनसे जो लाभ उन्हें हो, उन्हें दूसरों में भी बाँटें।

हमारी सार्वजनिक संस्थाएं—हमारी पाठशालाएँ, छात्रालय, वाचनालय, धर्मशाला, अनाथालय, भोजनगृह, क्लब, क्रीड़ांगण, इत्यादि सब देशवासियों के लिए खुले होने चाहिएँ। सबका समावेश उनमें होना चाहिए। हमारा सार्वजनिक जीवन एक-राष्ट्रीय होना चाहिए। एक दूसरे की सहायता करने की भावना बलवती होनी चाहिए। हमें यह समझ जाना चाहिए कि ऐसा करके हम किसी

दूसरे की सहायता नहीं करते हैं बल्कि खुद अपनी ही सहायता करते हैं। थोड़े में हमारी अस्मिता राष्ट्र-विस्तृत हो जानी चाहिए।

सामाजिक समता—हमें अपने देश का सर्वांगीण विकास करना है। देश का, राष्ट्र का कोई भी अंग उपेक्षित, अविकसित अथवा कुंठित न रहना चाहिए। उसके लिए पहली आवश्यकता है सामाजिक समता की। यह सिद्धान्त मान्य हो जाना चाहिए कि जन्म के कारण कोई ऊँचा अथवा नीचा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना सिर ऊँचा करके छाती तानकर चलने फिरने का और अपने पुरुषार्थ के पूर्ण उपयोग करने का, औरों के बराबर ही, अधिकार होना चाहिए। कोई ऐसी डींग न हाँके कि "मैं जन्मतः ही ऊँचे दर्जे का हूँ।" इसी प्रकार "मैं तो नीच ही हूँ" ऐसी आत्मद्रोही कल्पना भी किसी को न होनी चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार की यह अस्पृश्यता और जातियों की पारस्परिक विविध प्रकार की उच्च-नीच भावना बिलकुल निर्मूल हो जानी चाहिए।

विद्यार्थियों के प्रति भी हमारी आत्म-पावित्र्य की भावना से कम-ज्यादा मात्रा में अस्पृश्यता मानी जाती है। वह भी मिट जानी चाहिए। जन्ममूलक विषमता पाखण्ड है, मनुष्यता का अपमान है, उच्च और नीच दोनों के विकास पर एक भारी चट्टान है। सामाजिक और राजनीतिक संगठन के मार्ग में एक बड़ा भारी विघ्न है। जिस देश की माता में हमें कहीं भी आदरातिथ्य या पाँव रखने को जगह तक नहीं मिलती, उसके लिए—

आनन्दकंद ऐसा है हिन्द देश मेरा॥

अथवा

अयि मातृभूमि तेरे चरणों में शिर नवाऊँ॥
मन और देह तुझ पर, बलिदान मैं चढ़ाऊँ॥

इस प्रकार के भाव हरिजनों या मुसलमानों के हृदयों में कैसे पैदा हो सकेंगे?

इसके विपरीत सामाजिक समता का साक्षात्कार होने से दलित वर्गों की अनेक सोई हुई ताकतें जाग्रत होंगी और उनकी नई कार्य-शक्ति की सब ओर बाढ़ आयेगी जिसकी सुगन्ध देश-देशान्तरों में फैलने लगेगी।

इस सामाजिक समता की स्थापना के लिए हमें स्वराज्य-स्थापना के समान ही बहुत प्रयत्न करने पड़ेंगे। अस्पृश्यता के और विषमता के अनेक प्रकार हैं—मिलनबन्दी, रोटीबन्दी, मन्दिरबन्दी, होटलबन्दी, नाई-धोबीबन्दी, पोशाकबन्दी, गहनाबन्दी, मिष्ठान्नबन्दी इत्यादि। इन प्रत्येक से हमें झगड़ना पड़ेगा। विदेशी सत्ता से झगड़ने की अपेक्षा समाज से लड़ने में अधिक धैर्य, सहनशीलता और योजकता की जरूरत रहती है।

आर्थिक समता—आर्थिक समता भी इतनी ही महत्व की है। शारीरिक कष्ट करने वालों के व उनमें भी घृणित काम करने वालों के हिस्से में सामाजिक हीनता के साथ ही साथ दैन्य-दारिद्रय भी आते हैं। यह स्थिति अन्यायपूर्ण और सामुदायिक हित की दृष्टि से हानिकारक भी है। हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि किसान, मजदूर, कुम्हार, भंगी, चमार-जैसे उपयोगी और आवश्यक काम करने वाले घटकों का शोषण, बुद्धिजीवी व परोपजीवी वर्ग की ओर से बड़े पैमाने पर हो रहा है। जमींदार और उद्योगपति, कम मजदूरी देकर श्रमिकों से काम कराते हैं। व्यापारी भी गरीब और फुटकर व्यापारियों से ही विशेष मुनाफा लेते हैं। और साहूकार गरीब कर्जदारों से ही भारी व्याज लेते हैं। पीढ़ियों से आर्थिक कष्ट भुगतने के कारण ये श्रमजीवी (या श्रमभुक्त ?) वर्ग दैववादी, अल्प-सन्तुष्ट, आकांक्षाहीन बन गये हैं। उन्हें उनके श्रम का ज्यादा मुआवजा मिले व मुनाफा और व्याज सुमध्य हों, इसके लिए आन्दोलन, संगठन और कार्य-क्रम की योजना होनी चाहिए। देश की कुल सम्पत्ति समान बँटवारा होने मात्र से ही अनायास बढ़ जायगी क्योंकि सम्पत्ति का अर्थ सिक्का ही

नहीं है, अथवा उपभोग की वस्तुएँ ही नहीं हैं, बल्कि उन वस्तुओं के उपयोग से होने वाली प्राण शक्ति की वृद्धि अथवा मानसिक समाधान को सम्पत्ति कहते हैं। दस लड्डू यदि एक आदमी को दिये जायँ और दस आदमियों में हर एक को एक-एक लड्डू दिया जाय तो दूसरे प्रकार के दस लड्डुओं का दाम पहिले वाले दस लड्डुओं से बहुतेरा ज्यादा हो जायगा। इसी तरह राष्ट्र की ठोस सम्पत्ति चाहे उतनी ही रहे, परन्तु यदि उसका समान रूप से विभाजन किया जाय तो उससे राष्ट्र की प्राणशक्ति व सुखशान्ति हम बढ़ा सकेंगे। इस तरह यह मुफ़्त का, सुख का अचूक उपाय है।

और राष्ट्र के रीढ़ रूप इस महान् श्रमिक वर्ग का सामाजिक दर्जा व आर्थिक स्थिति जब सुधर जायगी तो वह स्वाभिमानी, समझदार, प्रभावशाली व शक्तिशाली होकर सारे राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़ाने में बहुमूल्य सहायता करेगा। उसको इस प्रकार समर्थ बनाने के लिए सच्ची व्याकुलता रखने वाले सैनिकों की सेना चाहिए।

उत्पादन की वृद्धि—समान विभाजन के साथ ही राष्ट्र की उत्पादन शक्ति बढ़ाने की ओर भी ध्यान देना ज़रूरी है। दरिद्रता आज हिन्दूस्तान के सामने अत्यन्त आवश्यक प्रश्न है। चाहे जैसा बेकस भोजन गले तक भर लेना पेट भर भोजन करना नहीं कहा जा सकता, बल्कि सम्यक् आहार, जिसमें दाल, चावल, रोटी, तेल, सब्जी, फल, दूध, घी, अथवा माँस, मछली यथोचित मात्रा में हो व जिसके सेवन से मनुष्य नीरोग, सशक्त और दीर्घायु हो उसी को पेट भर भोजन कह सकते हैं। ऐसा भोजन हिन्दुस्तान के करोड़ों लोगों के हिस्से में कभी-कभी ही आता होगा। कितने ही लोग इस देश में ऐसे हैं जिनकी स्त्रियों के पास बदलने के लिए साड़ी नहीं; उन्हें रात्रि के अँधेरे में अथवा नग्नप्राय स्थिति में स्नान करके फिर उसी साड़ी को पहन लेना पड़ता है; जहाँ के लोगों को गरम ओढ़ने के अभाव में सर्दियों में अँगीठी की गर्मी में सोना पड़ता है।

सात्विक आहार के अभाव में हिन्दुस्तानियों की औसत आयु बहुत घट गई है; बाल मृत्यु की मात्रा बहुत बढ़ गई है। बीमारियाँ फैल रही हैं और क्षय रोग का प्रचार तो बेशुमार हो गया है। इस अशांति को दूर करने के लिए केवल आर्थिक समता पर निर्भर रहने से काम नहीं चलेगा। इसके लिए जितनी हो सके राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति बढ़ानी पड़ेगी। आलस्य और सुस्ती, अल्पसंतुष्टता, बेकारी और निरुद्योग रहने की स्थिति भी निर्मूल होनी चाहिए। उसी प्रकार वर्तमान औज़ारों में और उद्योग-पद्धतियों में भी सुधार करना चाहिए। हमारा लक्ष्य यह होना चाहिए कि देश में कोई भी निरुद्योगी न रहे और न कोई भूखा ही रहे।

खेती में भी सुधार करना चाहिए। अच्छे बीजों का चुनाव, देहाती सेन्द्रिय खादों का संग्रह और सदुपयोग, औज़ारों का सुधार, ज़मीन की धूप को रोकना, गाय-बैलों की परवरिश, फ़सल के शत्रुओं का संघ-शक्ति से विनाश करना इत्यादि उपायों से पैदावार बढ़ानी चाहिए। किसानों के लिए सुविधाजनक सहयोगी उद्योग भी जारी करने चाहिएँ और जो उद्योग नाश के मार्ग पर चल पड़े हैं उन्हें टिका रखना चाहिए। देहाती उद्योग और औज़ारों में सीधे-सादे और सर्व-सुलभ सुधार जितने भी हों करने चाहिएँ। अखिल भारतीय चर्खा संघ ने सुलभ और सहायक उद्योग को पुनर्जीवित करके हज़ारों गाँवों के लाखों स्त्री पुरुषों को उनकी आमदनी में थोड़ी-बहुत वृद्धि करने का साधन दिया है। अखिल भारत ग्रामोद्योग संघ ने भी कागज़, साबुन, तेल, घाणी, चक्की इत्यादि उद्योगों में छोटे-बड़े कितने ही सुधार किये हैं और उनका संगठन भी किया है। इन संस्थाओं की तरफ़ से अनेक बुद्धिमान् और कुशल कार्य-कर्ताओं ने अपनी शोधक बुद्धि से सूक्ष्म प्रयोग और तपश्चर्या करके उसका लाभ जनता के सामने रख किया है। परन्तु इस दिशा में अभी और प्रयत्न करने की ज़रूरत है। हिन्दुस्तान के सात लाख गाँवों की उद्यमशीलता व कुशलता बढ़ाने के लिए लाखों सच्चे कार्यकर्त्ताओं की ज़रूरत है।

उद्धार कार्य—सामाजिक और आर्थिक अन्याय से पीड़ित और चकनाचूर लोगों को केवल ऐसा वैसा न्यायदान करने में हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं होती। आजतक जो कुछ उनकी अवहेलना हुई है उसकी पूर्ति कर डालने के लिए अर्थात् उनकी प्रगति तेज़ी से होकर वे दूसरे वर्गों के बराबर आ जायँ इसके लिए सरकार को और आगे बढ़े हुए वर्गों को उनके लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए। हरिजन, पिछड़ी जातियाँ, आदिवासी, इनकी ओर सरकार और समाज-सेवकों का ध्यान गया है, यह आनन्द की बात है। परन्तु इनके उद्धार कार्य को चलाने के लिए निष्ठावान सेवकों की अधिक तादाद में ज़रूरत है। प्रौढ़ शिक्षा, बाल शिक्षा, उद्योग शिक्षा, परम्परागत उद्योगों में सुधार और ऐसी तजवीज़ जिससे श्रमिकों को अधिक मुआवज़ा मिले, सामाजिक और धार्मिक अनिष्ट-रूढ़ियों का निवारण, साफ़-सुथरी और व्यवस्थित रहन-सहन, व्यसन-निवृत्ति इत्यादि सुधार करने के लिए उनमें जाकर रहने वाले और निरपेक्ष सेवा से उनका विश्वास प्राप्त करने वाले सेवक चाहिएँ।

स्त्रियों का आत्मविकास—भारत की स्त्रियाँ समाज का उपेक्षित और अवमानित अंग हैं, स्त्रियों का सामाजिक दर्जा हीन माना गया है, उनको स्वतंत्रता नहीं है और न पुरुषों के बराबर अधिकार ही। वे मानो पुरुषों की दासी अथवा सम्पत्ति हैं, ऐसा व्यवहार उनके साथ अनादि-काल से चला आ रहा है। आजतक सभी धर्मसंस्थापकों और सुधारकों ने स्त्रियों का समाज में दर्जा बढ़ाने का प्रयत्न किया है; फिर भी अभी इस दिशा में काम करने के लिए क्षेत्र खुला पड़ा है। स्त्रियों का सामाजिक दर्जा पुरुषों से किसी प्रकार हीन न होना चाहिए। वर्तमान विषमता और उपेक्षा के कारण स्त्रियों पर नाना प्रकार की जो आपत्तियाँ आती हैं वे दूर होनी चाहिएँ और स्त्रियों के आत्म-विश्वास को पूरा अवसर मिलना चाहिए और ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे उनके कर्तृत्व का परिपूर्ण लाभ राष्ट्र को मिले। **इस कार्य के**

लिए चाहे जितनी स्त्री-सेविकाएँ आगे आवें उतनी चाहिएँ परन्तु जब तक काफ़ी सेविकाएं न मिलें तब तक निष्कलंक चारित्र्यवान् पुरुष सेवकों का भी यह कर्त्तव्य है।

साक्षरता-प्रसार—अज्ञान, अन्धविश्वास, अंट-शंट पद्धतियां आदि को दूर करने के लिए सुशिक्षित, क्रियाशील और विशेष रूप से कार्य-व्याकुल कार्यकर्त्ताओं को देहात में रहकर लोगों के सुख-दुःखों से एक रूप होकर उनके साथ उन्नति का मार्ग ग्रहण करने की आकांक्षा रखनी चाहिए।

साक्षरता—लिखना पढ़ना जान लेना सब प्रकार के सुधार की बुनियाद है। हम जिस जगत में रहते हैं उसका ज्ञान प्राप्त करने व अज्ञान और उजड्डता को मिटाने का साक्षरता सुलभ साधन है; आजकल के विस्तृत और जटिल मानव जीवन में तो जो लिखना पढ़ना नहीं जानता उसे बहरा और गूंगा ही समझना चाहिए, जिस तरह कि बम्बई-निवासी के लिए टेलीफ़ोन का उपयोग न जानना मानो गूंगा और बहरापन ही है। मनुष्य विद्या से श्रेष्ठ बनता है, और साक्षरता विद्यार्जन का मूलाधार है। इसलिए जनता में सुजानता, बहुश्रुतता, कौशल और पुरुषार्थ को बढ़ाने के लिए सार्वत्रिक साक्षरता-प्रसार बहुत आवश्यक है। जैसे ही लड़कों में, वैसे ही प्रौढ़ों में; जैसे पुरुषों में वैसे ही स्त्रियों में उसका प्रसार करना चाहिए। हर एक गाँव में बच्चों की पाठशाला और प्रौढ़ साक्षरता वर्ग खुलने चाहिएँ, और देश के समस्त लोगों को साक्षर बनाना चाहिए। लेकिन यह काम बड़े खर्चे का है, अतः हमारी योजनाएँ ऐसी हों कि उनके खर्च का बोझ देश उठा सके। केवल वेतन के लिए नहीं बल्कि समाज-सेवा की भावना से अध्यापन कार्य में लगने वाले शिक्षक मिलने चाहिएँ; शिक्षा का ध्येय ऐसा होना चाहिए कि जिससे किसानों के लड़कों के मन में शारीरिक श्रम से अरुचि न होने पावे, और आनुवंशिक कामों के अयोग्य न बन कर उलटे अधिक क्रियाशील बनें।

शिक्षक का व्यवहार और पाठशाला का वातावरण भी ऐसा ही रहना चाहिए। पाठशाला के सत्र अथवा मियाद और दैनिक समयपत्रक ऐसा होनी चाहिए, जो काम-धन्धा करने वाले गरीब लोगों के लड़कों के लिए सुविधाजनक हो, पाठ और पाठ्यक्रम भी ऐसे होने चाहिएँ जिससे ग्रामीण जीवन समृद्ध हो। इन सब सुधारों के लिए अनुभव, चिन्तन, प्रयोग और योजना बड़े पैमाने पर करने की आवश्यकता है। परन्तु इतना करने पर भी साक्षरता का सार्वत्रिक प्रसार महज उसे अनिवार्य बनाकर नहीं किया जा सकता; उसके लिए निरक्षर वर्ग में ही शिक्षा पाने की उत्सुकता होनी चाहिए। राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक समता और उसकी बदौलत प्रत्येक हृदय में उठने वाली मनुष्यता के ज्ञान की लहर, जाग्रत स्वाभिमान, अपना दर्जा बढ़ाने की अथवा अपने ऊँचे दर्जे के योग्य बनने की उत्कण्ठा और नवीन उच्च जीवन की ओर खिंचाव इन सब बातों से साक्षरता के प्रति उत्सुकता व निरक्षता के प्रति शर्म उत्पन्न होगी।

इसी प्रकार साक्षरता अथवा स्कूली शिक्षण से शिक्षा की केवल शुरुआत होती है। शालाशिक्षण के अलावा देहातियों की समझ में आने योग्य सरल ढंग से विविध विषयों का विवेचन करने वाली पुस्तकें और पुस्तकाएँ छाप कर उन्हें सस्ते दामों में देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

रोगी परिचर्या—संक्रामक रोग विशेषतः महारोग (कोढ़) व क्षय-जैसे प्राणघातक ही नहीं बल्कि सर्वस्वघातक रोग बुरी तरह हिन्दुस्तान में फैल रहे हैं। इन रोगों का इलाज खुद रोगियों या उनके कुटुम्बियों के द्वारा ही नहीं बल्कि दूसरों को भी खुद अपनी रक्षा के लिए करना ज़रूरी है। इन रोगों के रोगियों को दूसरे से दूर रखकर वहाँ चिन्ता-पूर्वक उनकी शुश्रूषा और चिकित्सा करनी चाहिए। ठीक जतन न न होने से ही ये रोग तीव्र हो जाते और फैल जाते हैं; कोढ़ तथा क्षय के रोगियों की शुश्रूषा का कार्य जितना ही भूतदयात्मक और

धैर्ययुक्त है उतना ही सामाजिक दृष्टि से भी आत्मसंरक्षणात्मक है। हिन्दुस्तान में आजतक यह काम विदेशी ईसाई पादरी कर रहे हैं, इसके लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय कम है। परन्तु इसे और भी बहुत बड़े पैमाने पर करने की ज़रूरत है और इसके लिए हमारे देश से ही सेवक-सेविका आगे बढ़ने चाहिएँ।

पागलों का प्रश्न—पागलपन भी बहुत बार दरिद्रता और कम पोषण का ही परिणाम होता है। पागलों के इलाज के लिए महज जेलखाने के ढंग पर पागलखाने खोलने से काम नहीं चलेगा। प्रेम, सहानुभूति और मृदुलता के साथ सुश्रूषा करने से पागल ज़्यादा तादाद में और ज़्यादा जल्दी अच्छे हो सकेंगे। ऐसी कथा है कि ईसा मसीह पागलों के शरीर पर हाथ फेर कर उन्हें चंगा कर दिया करते थे। इसे ईश्वरीय अवतार का चमत्कार समझने की ज़रूरत नहीं बल्कि वह प्रेम और वात्सल्य के ही चमत्कार थे। अमेरिका में पागलखानों की जगह पागलों की सुश्रूषा करने वाले 'कुटुम्ब' होते हैं और उनकी उपयोगिता वहाँ अनुभवसिद्ध है।

पतित-परावर्तन—यह प्रश्न भी बहुत महत्व का और मृदुल रुचि का है। जिन लोगों को हम अपराधी कहते हैं और जेलों में डालकर सड़ाते हैं वे बहुधा जन्मतः अपराधी नहीं होते हैं, (यह तो नहीं कह सकते कि मनुष्य की जन्मसिद्ध प्रवृत्ति अपराधों की ओर नहीं होती परन्तु बहुत कम) बल्कि परिस्थिति के दबाव से, बुरी संगति से, कुसंस्कारों के प्रभाव से, संसार की कर्कशता की बदौलत, समाज के द्वारा किये गये सूक्ष्म आघातों के कारण, भुखमरी से, क्रोधावेश में या ऐसे ही अन्य कारणों से अपराधों की ओर प्रवृत्ति होती है। उन्हें समाज का अपराधी कहने की अपेक्षा समाज को ही उनका अपराधी ठहराना कुछ अंश तक उचित होगा। इन अपराधियों में भी बहुत से लोग कोमल मन, दिलदारी व असामान्य बुद्धि रखने वाले होते हैं, परन्तु समाज अपनी ही हठधर्मी से उनकी सेवा से वंचित

रहता है। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें शत्रुपक्ष में ढकेल देता है। ऐसे लोगों के साथ विशेष प्रेम, आदर, आस्था और मृदुलता का व्यवहार करना चाहिए। छोटी उम्र के अपराधियों के सम्बन्ध में यह दृष्टि-बिन्दु सरकार ने भी मंजूर कर लिया है। परन्तु प्रौढ़ अपराधियों के विषय में भी ऐसा सुधार होना आवश्यक है। जेलों को अस्पताल या गुरुकुल का रूप देना चाहिए। जेल से छूटने वाले कैदियों को भावी जीवन प्रामाणिक श्रम से व्यतीत करने में सहायता देना आवश्यक है।

परन्तु सरकार की शक्तियों की भी आखिर सीमा है। सरकार का हेतु कितना ही अच्छा हो तो भी केवल वेतनभोगी लोगों से ऐसे नाज़ुक काम पार पड़ना सम्भवनीय नहीं होता। उसके लिए अवैतनिक, परोपकारी, सेवक संस्थाओं की ही ज़रूरत रहती है।

एक यूरोपियन मिशनरी बाई की कथा है। १९१६ में वह गांधीजी के साबरमती आश्रम में आकर कुछ दिन रही थीं। उसी समय मद्रास का एक हिन्दू युवक भी आश्रम में रहा था। एक दिन वह युवक किसी को खबर हुए बिना चुपचाप भाग गया। उसी समय यह भी पता लगा कि उस मिशनरी कुमारी की सोने की घड़ी भी गायब है। इससे सहज ही यह सन्देह हुआ कि कहीं वह युवक ही तो चुरा न ले गया? फौरन वह बाई उस युवक की तलाश में मद्रास की तरफ रवाना हो गई। क्या चोर को पकड़ने के लिए? नहीं नहीं, उस लड़के से मिलकर यह कहने के लिए कि वह समझ ले कि "यह घड़ी मैंने तुझे इनाम दी", इसीलिए कि "अपनी शान के कारण अथवा घड़ी को यों ही खुला छोड़ जाने की गफ़लत से उस लड़के को यह घड़ी चुरा लेने की प्रवृत्ति हुई अतः अब मैं उसके पतन के लिए अधिक कारणीभूत न बनूँ।" फिर यह मालूम न हुआ कि इसका नतीजा क्या निकला। परन्तु अकृत्रिम वात्सल्य संसार में क्या नहीं कर सकता!

धैर्ययुक्त है उतना ही सामाजिक दृष्टि से भी आत्मसंरक्षणात्मक है। हिन्दुस्तान में आजतक यह काम विदेशी ईसाई पादरी कर रहे हैं, इसके लिए उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय कम है। परन्तु इसे और भी बहुत बड़े पैमाने पर करने की ज़रूरत है और इसके लिए हमारे देश से ही सेवक-सेविका आगे बढ़ने चाहिएँ।

पागलों का प्रश्न—पागलपन भी बहुत बार दरिद्रता और कम पोषण का ही परिणाम होता है। पागलों के इलाज के लिए महज जेलखाने के ढंग पर पागलखाने खोलने से काम नहीं चलेगा। प्रेम, सहानुभूति और मृदुलता के साथ सुश्रूषा करने से पागल ज़्यादा तादाद में और ज़्यादा जल्दी अच्छे हो सकेंगे। ऐसी कथा है कि ईसा मसीह पागलों के शरीर पर हाथ फेर कर उन्हें चंगा कर दिया करते थे। इसे ईश्वरीय अवतार का चमत्कार समझने की ज़रूरत नहीं बल्कि वह प्रेम और वात्सल्य के ही चमत्कार थे। अमेरिका में पागलखानों की जगह पागलों की सुश्रूषा करने वाले 'कुटुम्ब' होते हैं और उनकी उपयोगिता वहाँ अनुभवसिद्ध है।

पतित-परावर्तन—यह प्रश्न भी बहुत महत्व का और मृदुल रुचि का है। जिन लोगों को हम अपराधी कहते हैं और जेलों में डालकर सड़ाते हैं वे बहुधा जन्मतः अपराधी नहीं होते हैं, (यह तो नहीं कह सकते कि मनुष्य की जन्मसिद्ध प्रवृत्ति अपराधों की ओर नहीं होती परन्तु बहुत कम) बल्कि परिस्थिति के दबाव से, बुरी संगति से, कुसंस्कारों के प्रभाव से, संसार की कर्कशता की बदौलत, समाज के द्वारा किये गये सूक्ष्म आघातों के कारण, भुखमरी से, क्रोधावेश में या ऐसे ही अन्य कारणों से अपराधों की ओर प्रवृत्ति होती उन्हें समाज का अपराधी कहने की अपेक्षा समाज को ही अपराधी ठहराना कुछ अंश तक उचित होगा। इन अपराधि बहुत से लोग कोमल मन, दिलदारी व असामान्य बुद्धि र होते हैं, परन्तु समाज अपनी ही हठधर्मी से उनकी सेवा

रहता है। इतना ही नहीं बल्कि उन्हें शत्रुपक्ष में ढकेल देता है। ऐसे लोगों के साथ विशेष प्रेम, आदर, आस्था और मृदुलता का व्यवहार करना चाहिए। छोटी उम्र के अपराधियों के सम्बन्ध में यह दृष्टि-बिन्दु सरकार ने भी मंजूर कर लिया है। परन्तु प्रौढ़ अपराधियों के विषय में भी ऐसा सुधार होना आवश्यक है। जेलों को अस्पताल या गुरुकुल का रूप देना चाहिए। जेल से छूटने वाले कैदियों को भावी जीवन प्रामाणिक श्रम से व्यतीत करने में सहायता देना आवश्वक है।

परन्तु सरकार की शक्तियों की भी आखिर सीमा है। सरकार का हेतु कितना ही अच्छा हो तो भी केवल वेतनभोगी लोगों से ऐसे नाज़ुक काम पार पड़ना सम्भवनीय नहीं होता। उसके लिए अवैतनिक, परोपकारी, सेवक संस्थाओं की ही ज़रूरत रहती है।

एक यूरोपियन मिशनरी बाई की कथा है। १६१६ में वह गांधीजी के साबरमती आश्रम में आकर कुछ दिन रही थीं। उसी समय मद्रास का एक हिन्दू युवक भी आश्रम में रहा था। एक दिन वह युवक किसी को खबर हुए बिना चुपचाप भाग गया। उसी समय यह भी पता लगा कि उस मिशनरी कुमारी की सोने की घड़ी भी गायब है। इससे सहज ही यह सन्देह हुआ कि कहीं वह युवक ही तो चुरा न ले गया? फौरन वह बाई उस युवक की तलाश में मद्रास की तरफ रवाना हो गई। क्या चोर को पकड़ने के लिए? नहीं नहीं, उस लड़के से मिलकर यह कहने के लिए कि वह समझ ले कि "यह घड़ी मैंने तुझे इनाम दी", इसीलिए कि "अपनी शान के कारण अथवा घड़ी को यों ही खुला छोड़ जाने की गफलत से उस लड़के को यह घड़ी चुरा लेने की प्रवृत्ति हुई अतः अब मैं उसके पतन के लिए अधिक कारणीभूत न बनूँ।" फिर यह मालूम न हुआ कि इसका नतीजा क्या निकला। परन्तु अकृत्रिम वात्सल्य संसार में क्या नहीं कर सकता!

"पतित" स्त्रियों का प्रश्न तो किसी भी सहृदय मनुष्य के हृदय को व्यथित ही करेगा। स्त्रियाँ सब तरह पाप से परे हैं, यह हमारे कहने का प्रयोजन नहीं है। वे भी मानवी हैं और मानव मात्र से भूल हो सकती है; परन्तु समाज की ही लापरवाही, जुल्म और कठोर बंधन एवं कष्ट के कारण यदि किसी का पाँव गलत रस्ते पड़ गया तो उसी के अग्रसर-भागीदार को बिलकुल खुला छोड़कर उस अकेली को ही जन्म के लिए पतित ठहरा देना निठुरता और अन्याय की पराकाष्ठा है। ऐसे कितने ही 'पतितों' के, विधवाओं के, परित्यक्ताओं के और महज़ 'जन्म' लेने भर के अपराध के लिए मृत्युदण्ड पाने वाले शिशुओं के शाप हमारे समाज के सिर पर कितने होंगे, कौन कह सकता है।

व्यसन-निवृत्ति—शराब, अफीम, गाँजा, भाँग-जैसे व्यसन समाज-शरीर में घुसी हुई एक महान् व्याधि है और उसका निराकरण करने से मनुष्य जाति बहुत कुछ सुखी हो सकेगी। यदि आप चाहते हों कि दरिद्रता, अपराध, बीमारियाँ इत्यादि दूर हों तो उसका एक ही कारगर इलाज है—व्यसन निवृत्ति। सरकार के सहयोग के बिना पूरी-पूरी व्यसन-बन्दी शक्य नहीं है परन्तु अकेली सरकार भी इस काम को नहीं कर सकती। जब तक इतनी सत्ता हमारे पास नहीं आ जाती कि हम कानून के द्वारा शराबबन्दी कर सकें तब तक और उसके बाद कानून की सहायता के लिए उपदेश, धरना, मनोरंजन के सात्विक प्रकार इत्यादि उपायों से हमें शराबबन्दी का सच्चे दिल से प्रयास करना चाहिए। और-और सुधारों की तरह शराब-बन्दी-सम्बन्धी सुधार भी शराब पर महज सामने से हमला करके नहीं किया जा सकता। पाँवों का फोड़ा जैसे शरीर भर के सम दोष का परिणाम होता है वैसे ही शराब की तलब भी तनतोड़ मेहनत और उससे होने वाली थकान, गन्दी तंग जगह और भीड़भाड़ में रहना, संसार की कर्कशता और उससे उत्पन्न मानसिक क्लेश, निराशा अथवा असहाय स्थिति इत्यादि का परिणाम है। इसका यह अर्थ हुआ कि उसकी उपाय-योजना भी वैसी ही विविध

और व्यापक होनी चाहिए ; जैसे आठ आठ मन वज़न की बोरियाँ दिन दिन भर ढोकर दो तीन रुपये कमाने वाले मज़दूरों को शाम के वक़्त अपनी आधी कमाई, कलारी में खोये बिना चारा नहीं अतः यदि हम्मालों से शराब छुड़वानी हो तो उनके लिए बंगाली मन से ज्यादा वज़न की बोरियाँ उठाने की मनाई कानूनन् होनी चाहिए।

अंधशाला—अंधों और गूँगों बहिरों की शिक्षा के सम्बन्ध में ईसाई पादरियों ने सबसे पहिले क़दम बढ़ाया है। वे देख और सुन नहीं सकते ; परन्तु उनकी दूसरी इन्द्रियाँ और बुद्धि विशेष तीव्र रहते हैं। उनका विकास कर देने से वे समाज के स्वावलम्बी व उपयोगी घटक बन जायँगे।

भिखारियों का प्रश्न भी बड़ा विकट परन्तु महत्वपूर्ण है। कहते हैं, साधु-संन्यासी, फ़कीर इत्यादि को मिलाकर कोई छप्पन लाख भिखारी हिन्दुस्तान में हैं। इनमें से जो धार्मिक मान-मान्यता रखते हैं उनके पीछे लगने में ख़तरा है परन्तु जो दीन-दुर्बल अथवा लँगड़े-लूले हैं अथवा कोढ़ जैसी बीमारियों से ग्रस्त हैं उन्हें घर-घर न भटकना पड़े—और कोढ़ियों को तो घूमने देना भी न चाहिए—घर बैठे ही उनकी सुख और सुश्रूषा की व्यवस्था होनी उचित है। परन्तु जो हट्टे-कट्टे हैं अथवा कोई न कोई काम करने के योग्य हैं उनके लिए भिक्षा निषिद्ध होनी चाहिए और उन्हें उनके योग्य काम देकर मेहनताना देने की व्यवस्था होना आवश्यक है।

अस्तु। अज्ञान, दैन्य, दारिद्र्य, व्यसन, वैमनस्य, पारतन्त्र्य इत्यादि दोष दूर हों, हिन्दुस्तान के समस्त निवासियों की सुप्त शक्तियों का विकास हो और सुखी, सुजान, समृद्ध, सुशील, समर्थ हिन्दुस्तान ख़ुद अपना कल्याण करके संसार की प्रगति में भी सहायक हो, इसके लिए जो अनेक प्रकार के प्रयत्न होने चाहिएँ उनमें से कुछ स्थूल प्रकारों का उल्लेख यहाँ संक्षेप में किया गया है। सेवक जब प्रत्यक्ष काम में जुट पड़ेंगे तब और भी कितने ही प्रकार सूझ जायँगे। यहाँ तो हमारा

"पतित" स्त्रियों का प्रश्न तो किसी भी सहृदय मनुष्य के हृदय को व्यथित ही करेगा। स्त्रियाँ सब तरह पाप से परे हैं, यह हमारे कहने का प्रयोजन नहीं है। वे भी मानवी हैं और मानव मात्र से भूल हो सकती है; परन्तु समाज की ही लापरवाही, ज़ुल्म और कठोर बंधन एवं कष्ट के कारण यदि किसी का पाँव ग़लत रस्ते पड़ गया तो उसी के अग्रसर-भागीदार को बिलकुल खुला छोड़कर उस अकेली को ही जन्म के लिए पतित ठहरा देना निठुरता और अन्याय की पराकाष्ठा है। ऐसे कितने ही 'पतितों' के, विधवाओं के, परित्यक्ताओं के और महज़ 'जन्म' लेने भर के अपराध के लिए मृत्युदण्ड पाने वाले शिशुओं के शाप हमारे समाज के सिर पर कितने होंगे, कौन कह सकता है।

व्यसन-निवृति—शराब, अफीम, गाँजा, भाँग-जैसे व्यसन समाज-शरीर में घुसी हुई एक महान् व्याधि है और उसका निराकरण करने से मनुष्य जाति बहुत कुछ सुखी हो सकेगी। यदि आप चाहते हों कि दरिद्रता, अपराध, बीमारियाँ इत्यादि दूर हों तो उसका एक ही कारगर इलाज है—व्यसन निवृत्ति। सरकार के सहयोग के बिना पूरी-पूरी व्यसन-बन्दी शक्य नहीं है परन्तु अकेली सरकार भी इस काम को नहीं कर सकती। जब तक इतनी सत्ता हमारे पास नहीं आ जाती कि हम कानून के द्वारा शराबबन्दी कर सकें तब तक और उसके बाद कानून की सहायता के लिए उपदेश, धरना, मनोरंजन के सात्विक प्रकार इत्यादि उपायों से हमें शराबबन्दी का सच्चे दिल से प्रयास करना चाहिए। और-और सुधारों की तरह शराब-बन्दी-सम्बन्धी सुधार भी शराब पर महज सामने से हमला करके नहीं किया जा सकता। पाँवों का फोड़ा जैसे शरीर भर के सम दोष का परिणाम होता है वैसे ही शराब की तलब भी तनतोड़ मेहनत और उससे होने वाली थकान, गन्दी तंग जगह और भीड़भाड़ में रहना, संसार की कर्कशता और उससे उत्पन्न मानसिक क्लेश, निराशा अथवा असहाय स्थिति इत्यादि का परिणाम है। इसका यह अर्थ हुआ कि उसकी उपाय-योजना भी वैसी ही विविध

और व्यापक होनी चाहिए ; जैसे आठ आठ मन वज़न की बोरियाँ दिन दिन भर ढोकर दो तीन रुपये कमाने वाले मज़दूरों को शाम के वक्त अपनी आधी कमाई, कलारी में खोये बिना चारा नहीं अतः यदि हम्मालों से शराब छुड़वानी हो तो उनके लिए बंगाली मन से ज्यादा वज़न की बोरियाँ उठाने की मनाई कानूनन् होनी चाहिए।

अंधशाला—अंधों और गूँगों बहिरों की शिक्षा के सम्बन्ध में ईसाई पादरियों ने सबसे पहिले क़दम बढ़ाया है। वे देख और सुन नहीं सकते ; परन्तु उनकी दूसरी इन्द्रियाँ और बुद्धि विशेष तीव्र रहते हैं। उनका विकास कर देने से वे समाज के स्वावलम्बी व उपयोगी घटक बन जायँगे।

भिखारियों का प्रश्न भी बड़ा विकट परन्तु महत्वपूर्ण है। कहते हैं, साधु-संन्यासी, फ़कीर इत्यादि को मिलाकर कोई छप्पन लाख भिखारी हिन्दुस्तान में हैं। इनमें से जो धार्मिक मान-मान्यता रखते हैं उनके पीछे लगने में ख़तरा है परन्तु जो दीन-दुर्बल अथवा लँगड़े-लूले हैं अथवा कोढ़ जैसी बीमारियों से ग्रस्त हैं उन्हें घर-घर न भटकना पड़े—और कोढ़ियों को तो घूमने देना भी न चाहिए—घर बैठे ही उनकी सुख और सुश्रूषा की व्यवस्था होनी उचित है। परन्तु जो हट्टे-कट्टे हैं अथवा कोई न कोई काम करने के योग्य हैं उनके लिए भिक्षा निषिद्ध होनी चाहिए और उन्हें उनके योग्य काम देकर मेहनताना देने की व्यवस्था होना आवश्यक है।

अस्तु। अज्ञान, दैन्य, दारिद्र्य, व्यसन, वैमनस्य, पारतन्त्र्य इत्यादि दोष दूर हों, हिन्दुस्तान के समस्त निवासियों की सुप्त शक्तियों का विकास हो और सुखी, सुजान, समृद्ध, सुशील, समर्थ हिन्दुस्तान ख़ुद अपना कल्याण करके संसार की प्रगति में भी सहायक हो, इसके लिए जो अनेक प्रकार के प्रयत्न होने चाहिएँ उनमें से कुछ स्थूल प्रकारों का उल्लेख यहाँ संक्षेप में किया गया है। सेवक जब प्रत्यक्ष काम में जुट पड़ेंगे तब और भी कितने ही प्रकार सूझ जायँगे। यहाँ तो हमारा

उद्देश्य इतना ही बतला देना था कि सेवकों के लिए कितने विस्तृत क्षेत्र चारों ओर खुले पड़े हैं।

सेवाशील संसार—इस कार्य के लिए निःसंग सेवक जितने ही आगे बढ़ें उतने ही ज़रूरी हैं, परन्तु निःसंग सेवा ही सब कुछ नहीं अथवा यह भी नहीं कि निःसंग हुए बिना सेवा कर ही नहीं सकते। हमें संसारी सेवक भी चाहिएँ। गृहस्थाश्रम भी समाज की शान्ति का भाण्डार है। उसी को सेवाशील बनाना वांछनीय है। लोग अपने संसार-कार्य सेवा भाव से और देश-हित पर दृष्टि रख कर ही चलावें। अपने स्वार्थ को देशहितानुगामी और देशहित के अधीन कर दें। देशहितकारी ही उद्योग-धन्धे, व्यापार करें। देश-विघातक धन्धे और काम करना छोड़ दें। संसारी मनुष्य को भी दूसरों के काम आने के संकट के अवसर पर दौड़ जाने के, अन्याय से झगड़ने के अवसर हर घड़ी आते रहते हैं। ऐसे अवसर पर उन्हें अपने कर्त्तव्य से न चूकना चाहिए। माँ बाप अपने बच्चों को देशभक्ति की ओर लगावें। शिक्षक विद्यार्थियों को केवल पढ़ाई में ही होशियार बनाकर सन्तोष न मानते हुए उन्हें ऐसी शिक्षा दें जिससे वे समाज के शीलवान्, सुजान, व्याकुल, कर्त्तव्यतत्पर और पुरुषार्थी घटक बन जायँ। लेखक, कवि, यंत्र-शास्त्रज्ञ, वैद्य डाक्टर इस बात की चिन्ता करें कि हमारी सेवा बहुजन समाज तक—समाज की निचली सतह तक कैसे पहुँचे। सरकारी नौकरों को भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रजा ही हमारा सच्चा मालिक है और हम अपने मातहतों के स्वामी नहीं, बल्कि सेवक हैं। इस तरह सारा वातावरण कर्त्तव्य-तत्पर, सेवाशील और राष्ट्रनिष्ठ हुए बिना किसी भी देश का अभ्युदय नहीं होता।

सेवक संस्था चाहिए—यों तो सेवकों को देश-सेवा के लिए व्यक्तिशः ही आगे बढ़ना चाहिए तथापि ऐसे सेवकों को सहारा देने के लिए तथा उनकी योजना और मार्ग-दर्शन के लिए सेवा-संस्थाओं की भी ज़रूरत है। रवीन्द्रनाथ अपने स्वदेशी समाज में (पृष्ठ २३) कहते

है : "आज यदि किसी युवक से कहें कि तुम समाज-सेवा में अपना जीवन लगा दो तो वह चक्कर में पड़ जायगा। कौन-सा काम करे, किसके बल पर करें, क्या खाये, कहाँ रहें, ऐसे अनेक प्रश्न उसके सामने आ खड़े होंगे। कोई एक व्यक्ति अपने कार्य की योजना नहीं कर सकता। उसके लिए संगठन चाहिए। कोई आश्रम होना चाहिए।" फिर पृष्ठ ५८ में लिखते हैं—"ऐसे समय आश्रम-जैसी केन्द्रीय संस्था की आवश्यकता रहती है। उस केन्द्रीय शक्ति के झंडे के नीचे सबका एकीकरण होना चाहिए। उसमें विचारशील अपने विचार देंगे, श्रमी श्रम देंगे, और उदार लोग अपना धन देंगे। शिक्षा, साहित्यकला, उद्योग धन्धे—हमारे कल्याण के सब कार्य उस मुख्य केन्द्र के आस-पास खड़े हो जायँगे और जिस सर्वसमृद्ध रामराज्य का निर्माण करने के लिए देशभक्त इतना उद्योग कर रहे हैं उसके लिए इस केन्द्र से सहायता मिलेगी।"

ऐसी संस्थाएँ अथवा आश्रम हर ज़िले में होने चाहिएँ। ज़िला संस्थाओं का एकीकरण करने वाली प्रांतीय संस्था होनी चाहिए और उनका भी एकीकरण करने वाली अखिल भारतीय संस्था होनी चाहिए।

स्वयंसेवक भी चाहिए:—जो अपने-अपने काम-धन्धों में लगे हुए हैं उन्हें देश को याद करके अपना काम करना चाहिए, परन्तु जो उसके अलावा हैं वे भी फ़ुर्सत के समय में अपनी रुचि और परिस्थिति की माँग के अनुसार किसी न किसी सार्वजनिक काम में नियमित रूप से हिस्सा लें। अपनी नौकरी या काम-धन्धा जितनी ज़िम्मेदारी के साथ मन लगाकर अनुशासनपूर्वक हम करते हैं उतनी ही ज़िम्मे-दारी, आस्था, अनुशासन और कर्तव्य भाव से यह अवैतनिक काम भी करना चाहिए। यदि हम "सर्वसंग परित्याग" न कर सकें—और सब उसे कर भी नहीं सकेंगे—तो भी अपने-अपने मुख्य अथवा निर्वाह का काम करके भी समय निकाल कर बहुतेरा देशकार्य करने जैसा है। सिर्फ़ उसके लिए निश्चय और योजकता चाहिए।

नियमित द्रव्यदान—देश सेवा का और भी एक प्रकार है वह है द्रव्यदान। सेवा कार्य और सेवक के निर्वाह के लिए द्रव्य की ज़रूरत रहती ही है। धनी लोग यदि अपनी-अपनी पसंद के कार्य और कार्य-कर्त्ताओं को नियमित रूप से और कर्त्तव्य भाव से धन की पूर्ति करते-रहें तो भी बड़ी बात हो। हमारे अपने गृह-संसार की तरह देश का बोझ भी हमारे सिर पर है। जिस तरह कालेज में पढ़ने वाले अपने लड़कों व भाइयों को हम प्रतिमास रुपया भेजते हैं उसी तरह कोई ख़ास कार्यकर्त्ता भी हमारा भाई ही है, अथवा बतौर हमारे प्रतिनिधि के ही हमने उसे किसी ख़ास कार्य में लगाया है; जिस तरह सरकारी देश कार्य को इच्छा या अनिच्छा से हम कर देते हैं इसी तरह ग़ैरसरकारी देश-काय में भी हमें स्वेच्छा से कर देना आवश्यक है, ऐसी भावना रखकर अपनी आमदनी का एक ख़ास हिस्सा एक ख़ास कार्य को—वह हिस्सा हमारा नहीं उस ख़ास कार्य का ही है ऐसी दृढ़ भावना से—अर्पण करना भी निःसन्देह देशसेवा का एक ठोस और महत्त्वपूर्ण प्रकार है।

पादरियों का शिष्यत्व—हमें यह बात कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करनी चाहिए कि इस युग में हमारे देश में अनेक प्रकार के सेवा कार्यों के संस्थापक ईसाई पादरी हैं। बड़े-बड़े कालिज और शिक्षा-संस्थाएँ, आधुनिक साधनों से सुसज्जित अस्पताल, अनाथालय इत्यादि उन्हीं ने पहले पहल खोले हैं और वही चलाते हैं। कोढ़ियों की सुश्रूषा और अंधे बहिरों की शिक्षा तो उन्हीं ने शुरू की है। छापाख़ाना भी पहिले-पहल उन्हीं ने शुरू किया। उद्योग-धन्धों में अनेक सुधार उन्हीं ने हमें सिखाये। अकाल-निवारण का कार्य भी उन्होंने अनेक अवसरों पर किया है। हरिजन, आदिवासी इत्यादि का उद्धारकार्य उन्हों ने ही शुरू किया और अब भी बड़े पैमाने पर चला रहें हैं। स्त्री-शिक्षा की बुनियाद भी उन्हों ने डाली।

पादरियों की तरह गोरे लोगों-द्वारा प्रस्थापित और संसार भर में संचालित मुक्तिफ़ौज, बॉय स्काउट, रेडक्रास, जैसी जगद्व्यापी संस्थाओं

की शाखा-उपशाखाएँ हिन्दुस्तान में भी फैली हुई हैं। उनके इन सब उपकारों के प्रति हमें कृतज्ञ रहना चाहिए। सेवाकार्य में हमें ओछा देशाभिमान न रखना चाहिए। तथापि यह सब कार्य और दूसरे भी अनेक कार्य खुद हमीं को करना शोभा देगा। समाज-सेवा के मामले में हमें गोरों से सबक सीखना चाहिए।

परम्परागत सेवावृत्ति—हम लोगों के जीवन में, कौटुम्बिक क्षेत्र में, सेवावृत्ति का प्रकर्ष दिखाई देता है। हमारी संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति भी सेवावृत्ति का ही परिपाक है। बालसंगोपन, माता-पिताओं की सेवा, बन्धुप्रेम, पातिव्रत ये उत्कृष्ट सेवावृत्ति के ही नमूने हैं। यही नहीं बल्कि बुआ, चाची, मौसी, साले-साली, भानजे, भतीजे जैसे आप्त इष्टों का धर्मपूर्वक ही नहीं बल्कि स्वत्वपूर्वक आश्रय हमारी कुटुम्ब-पद्धति पर था। अब भी बहुत से कुटुम्बों में ऐसा है। अतिथि-सेवा भी गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य था। दानधर्म की ज़िम्मेदारी प्रत्येक गृहस्थ पर थी। हमारे घरेलू जीवन के ये अंग निःसंशय स्पृहणीय और संग्रहणीय हैं। जन्म लेते ही मनुष्य, देव, ऋषि, पितृ और समाज का ऋण लेकर ही आता है अथवा गृहस्थ को देवयज्ञ, भूतयज्ञ-पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, ब्रह्मयज्ञ ऐसे पाँच महायज्ञ प्रतिदिन करना चाहिए, इस कल्पना में सेवाधर्म ही प्रतिबिम्बित हुआ है।

वर्ण-व्यवस्था भी परस्पर की सेवा व सहकार्य की नीति पर ही आधारित थी। ब्राह्मण निःसंग समाज-सेवक था, इसलिए ब्राह्मण को दिया दान सहज ही अखिल समाज को और समाज-कार्य को पहुँच जाता था। इसी तरह कह सकते हैं—वैश्य 'संसारी सेवक' और क्षत्रिय "स्वयंसेवक" था। पूर्वकाल के दान-धर्म का प्रकार रास्ते, घाट, तालाब, धर्मशाला, मन्दिर इत्यादि बनाना; बड़, पीपल के आस-पास चौतरा बनवाना आदि थे। उनका स्वरूप ऐसा था कि जिनसे वे केवल मनुष्य मात्र को ही नहीं बल्कि ढोर, पशु-पक्षी इत्यादि के लिए भी उपकारक होते थे। इससे आर्थिक विषमता मूल से ही अथवा जहाँ की तहाँ **नष्ट**

हो जाती थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि उस समय 'शूद्र' अलबत्ते 'समाज' से भिन्न माने जाते थे।

परन्तु अब ज़माना बदल गया है। पुरानी कुटुम्ब-पद्धति तितर-बितर हो गई है और वर्ण-व्यवस्था का तो लोप ही हो चुका है। प्रजा-तंत्र के वर्तमान युग में ब्रा० शूद्र तक सभी लोग नाम के ही नहीं बल्कि सचमुच "राजश्रिया विराजित" हो गये हैं। अनेक बातों में हम पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण कर रहे हैं। सामाजिक ज़िम्मेदारियों का बोझ हमीं उठावें और सामाजिक जीवन पद्धति के निर्माता हम खुद ही हों, यह आत्मविश्वास हमें अपने शासकों से ग्रहण करना जरूरी है।

स्वर्ग को पृथ्वी पर लाओ—यह बात नहीं कि हम लोगों में स्वार्थ-त्याग की या परमार्थ भाव की कमी है बल्कि हममें जिसने स्वार्थ छोड़ दिया वह विरक्त होकर सीधा ईश्वर भजन में—परलोक तलाश में लग गया। उपनिषत्कारों ने हमें यह सन्देश दिया है *"ईशावास्य मिदं सर्वं यत्किंचत् जगत्यां जगत्"*—यह सारा जगत् ईश्वर से पूर्ण है। फिर भी ऐसे छिट-फुट उपदेशों का प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर पूरा पड़ा दिखाई नहीं देता। हमारा ईश्वर संसार से अलग ही रह गया और हमारा स्वर्ग सूर्य चंद्र ताराओं से परे किसी अज्ञात प्रदेश में छिप रहा है। अतः हमें स्वर्ग को पृथ्वी पर लाने वाले और ईश्वर का सृष्टि में संचार कराने वाले कर्मयोग की शिक्षा आत्मसात् कर लेनी है।

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।

उठो, जागो और बड़ों का मार्ग-दर्शन प्राप्त करके सुबुद्ध होओ।
